विवेक ज्योति
हिन्दी त्रैमासिक
रामकृष्ण मिशन,
नन्द आश्रम, रायपुर
वर्ष : २८ अंक १
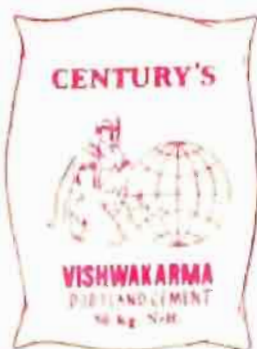
विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

जनवरी-फरवरी-मार्च

* १९९० *

सम्पादक एवं प्रकाशक

स्वामी गौतमानन्द

सह सम्पादक

स्वामी निखिलात्मानन्द

व्यवस्थापक

स्वामी श्रीकरानन्द

वार्षिक १०)

एक प्रति ३)

आजीवन ग्राहकता शुल्क (२५ वर्षों के लिए)–१००)

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम

रायपुर-४९२ ००१ (म.प्र.)

दूरभाष : २४५८९

अनुक्रमणिका

□

मुद्रक : नईदुनिया प्रिंटरी, इन्दौर–४५२००९ (म. प्र.)

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण - विवेकानन्द - भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष २८] जनवरी-फरवरी-मार्च ★ १९९० ★ [अंक १

धीर कौन ?

निन्दन्तु नीति निपुणा यदि वा स्तुवन्तु ।
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम् ॥
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा ।
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥

—नीतिवान् जन चाहे निन्दा करें चाहे प्रशंसा, धन रहे या जाये, आज ही करना पड़े या युगान्तर के बाद, परन्तु धीर पुरुष न्याय पथ को छोड़, एक पग भी उसके बाहर नहीं जाते ।

—भर्तृहरिकृत 'नीतिशतकम्', ८५

अग्नि-मंत्र

(कुमारी मेरी हेल तथा कुमारी हैरियट हेल को लिखित)

ग्रीनेकर सराय, इलियट, मेन,
३१ जुलाई, १८९४

प्रिय बहनों,

बहुत दिनों से तुम लोगों को मैंने कोई पत्र नहीं लिखा, लिखने लायक कोई खास समाचार भी नहीं था। यह एक बड़ी सराय तथा खेत घर है। यहाँ पर ईसाई वैज्ञानिकों की समिति की एक बैठक हो रही है। इस बैठक की संयोजिका ने गत वसन्त ऋतु में, जब मैं न्यूयार्क में था, मुझे यहाँ आने के लिए निमंत्रित किया था, और इसीलिए मैं यहाँ पर आया हूँ। निःसन्देह यह स्थान सुन्दर तथा ठंडा है और शिकागो के मेरे अनेक पुराने मित्र भी यहाँ उपस्थित हैं। श्रीमती मिल्स तथा कुमारी स्टॉकहम तुम्हें याद होंगी, कुछ और स्त्री-पुरुषों के साथ वे नदी के किनारे की खुली जगह में तम्बू लगा कर रह रही हैं। उनका समय बहुत आनन्दपूर्वक बीत रहा है तथा कभी-कभी सभी लोग दिन भर, तुम जिसे वैज्ञानिक पोशाक कहती हो, पहने रहते हैं। भाषण प्रायः प्रतिदिन होते हैं। बोस्टन से श्री कॉलविल नाम के एक सज्जन आए हुए हैं। वे अपना प्रतिदिन का भाषण, कहा जाता है प्रेताविष्ट होकर देते हैं। 'यूनिवर्सल ट्रुथ' की सम्पादिका [1] जो जिमि मिल्स नामक भवन की

---

1 ईसाई वैज्ञानिक (Christian Scientist) अमेरिका का एक सम्प्रदाय विशेष है। उनका यह दावा है कि ईसा की तरह अलौकिक उपायों के द्वारा ये लोग भी रोग दूर कर सकते हैं। स०

ऊपरी मंजिल पर रहती थीं, यहाँ आकर बस गयी हैं। वे धार्मिक उपासना की परिचालना कर रही हैं तथा मानसिक शक्ति के द्वारा सब प्रकार की बीमारियों को दूर करने की शिक्षा भी दे रहीं हैं; मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि शीघ्र ही ये लोग अन्धों को नेत्रदान तथा इसी प्रकार के अन्य कार्य भी करने लगेंगे। यह एक अजीब सम्मेलन है। सामाजिक विधि-निषेधों की इन्हें विशेष कोई परवाह नहीं, ये लोग काफी स्वछन्द तथा खुश है। श्रीमती मिल्स एक अच्छी-खासी प्रतिभा-शालिनी महिला हैं। ऐसी और भी अनेक महिलाएँ हैं। श्रीमती च्यापन नामक एक महिला को मैंने विधवा समझा था किन्तु अब पता चला है कि उनके पति जीवित हैं। वे अत्यन्त रूपवती हैं। डिट्राएट की रहने वाली एक दूसरी अत्यन्त शिक्षित एवं सुन्दर, काली आँखों तथा लम्बे केशोंवाली महिला मुझे समुद्रतट से १५ मील की दूरी पर एक द्वीप में ले जा रही हैं। आशा है, वहाँ हम लोगों का समय अच्छा बीतेगा। कुमारी आर्थर स्मिथ भी यहीं पर हैं। कुमारी गर्नजी स्वाम्पस्कॉट से घर गई हैं। यहाँ से मेरी एनिस्क्वाम जाने की सम्भावना है। यह स्थान अत्यन्त सुन्दर तथा मनोरम है, नहाने की यहाँ बड़ी सुविधा है। कोरा स्टॉकहम ने मेरे लिए नहाने की एक पोशाक ला दिया है और मैं बत्तख की तरह जल का आनन्द ले रहा हूँ—यह स्थान बड़ा ही सुन्दर है यहाँ तक कि मड्व्हिल (Mudvicle) में रहने वालों के लिए भी।

और विशेष कुछ लिखने का मुझे अवसर नहीं, मैं इस समय इतना अधिक व्यस्त हूँ कि मदर चर्च को पृथक् पत्र लिखने तक का मुझे समय नहीं है। कुमारी हाउ से

मेरा प्यार तथा श्रद्धा निवेदन करना।

बोस्टन के श्री वुड भी यहीं हैं, जो तुम्हारे सम्प्रदाय के एक प्रधान ज्योतिष्क हैं। किन्तु श्रीमती व्हर्लपूल[2] के सम्प्रदाय में सम्मिलित होने में उन्हें घोर आपत्ति है। वे इसलिए अपने को दार्शनिक–रासायनिक–भौतिक-आध्यात्मिक आदि और भी न जाने कितनी व्याधियों के मानसिक चिकित्सक के रूप में परिचित करना चाहते हैं। कल यहाँ एक भीषण चक्रवात आया था, फलस्वरूप तम्बुओं की अच्छी 'चिकित्सा' हुई है। जिस बड़े तम्बू के नीचे उन लोगों के भाषण हो रहे थे, उस 'चिकित्सा' के फलस्वरूप उसकी आध्यात्मिकता इतनी बढ़ गई कि वह मर्त्य आँखों से एकदम अन्तर्हित हो गया और उस आध्यात्मिकता से विभोर होकर प्रायः दो सौ कुर्सियाँ जमीन पर नृत्य करने लगीं। मिल्स कम्पनी की श्रीमती फिग्स प्रतिदिन सुबह नियमित रूप से प्रवचन करती हैं; और श्रीमती मिल्स अत्यन्त व्यस्तता के साथ सब जगह उछलकूद रही हैं—ये सभी लोग अत्यन्त आनन्द में मस्त हैं। मैं विशेषकर 'कोरा' को देखकर अत्यन्त आनन्दित हूँ, क्योंकि पिछले जाड़े में उन लोगों को विशेष कष्ट उठाना पड़ा था और थोड़ा आनन्द उसके लिए लाभकर ही होगा। वे लोग तम्बुओं में किस प्रकार की स्वाधीनता उपभोग करते हैं यह सुनकर तुम्हें आश्चर्य होगा, किन्तु ये लोग सभी बड़े सज्जन एवं शुद्धात्मा हैं—कुछ मनचले अवश्य हैं, और कुछ नहीं।

2. ईसाई वैज्ञानिक सम्प्रदाय की स्थापना करने वाली श्रीमती एडी को स्वामीजी परिहासपूर्वक –Mrs whirlpool (आवर्त) कहते थे, क्योंकि Eddy तथा whirlpool पर्यायवाची शब्द हैं। स०

मैं आगामी शनिवार तक यहाँ रहूँगा, अत: इस पत्र के मिलते ही यदि तुम इसका जवाब दो, तो यहाँ से रवाना हो जाने के पहले मुझे वह मिल सकता है।

एक युवक यहाँ प्रतिदिन गाता है—वह पेशेवर गवैया है; अपनी वाग्दत्ता वधू तथा बहन के साथ वह यहाँ है। उसकी भावी पत्नी भी अच्छा गाती है तथा देखने में अत्यन्त सुन्दर है। अभी उस रात छावनी के सभी लोग एक पेड़ के नीचे सोए थे, जिसके नीचे में हर रोज प्रात:काल हिन्दू-रीति से बैठकर इन लोगों को उपदेश देता हूँ। मैं भी उन लोगों के साथ गया था—तारों के नीचे धरती माता की गोद में सोए हुए हम लोगों ने एक अच्छी रात बिताई, खासकर मैंने तो हर घड़ी उसका पूरा-पूरा आनन्द लिया। धरती पर सोना, जंगल में पेड़ के नीचे बैठकर ध्यान लगाना, मेरे एक वर्ष के कठोर जीवन के बाद उस रात के आनन्द का वर्णन नहीं कर सकना। सराय में रहनेवाले लोग कमोबेश अच्छी स्थिति में हैं और जो लोग तम्बू में रहते हैं, वे सभी स्वस्थ्य सबल, शुद्ध तथा सरल प्रकृति के हैं। मैं उन्हें 'शिवोऽहम्' 'शिवोऽहम्' सिखाता हूँ और वे लोग उसे दुहराते रहते हैं; सभी सरल तथा पवित्र हैं, एवं बिल्कुल निर्भीक। अत: मैं अत्यन्त आनन्दित हूँ, कृतार्थ हूँ। मैं ईश्वर का आभारी हूँ कि उन्होंने मुझे धन नहीं दिया और इन तम्बुओं में रहने वाले इन बच्चों को गरीब बनाया। तुनक-मिजाज, ऐशपसन्द स्त्री-पुरुष होटल में ठहरे हुए हैं, किन्तु वज्रदेही, वज्रहृदय, पावक सम उत्साह-सम्पन्न लोग तम्बुओं में हैं। कल जब मूसलाधार वर्षा हो रही थी और चक्रवात सब उलट-पलट रहा था, उस समय ये

निडर वीर हृदय लोग आत्मा की महिमा में प्रतिष्ठित होकर तम्बुओं को उड़ा ले जाने से रोकने के लिए उनकी रस्सियों को पकड़ कर ऐसे झूल रहे थे कि यदि तुम उस दृश्य को देखती, तो तुम्हें प्रसन्नता होती। मैं ऐसे लोगों को देखने के लिए सौ मील चलने के लिए तैयार हूँ। प्रभु इनका कल्याण करें। आशा है, तुम लोग अपने सुन्दर ग्राम्य जीवन का आनन्द ले रही होगी। मेरे लिए तुम किंचित्मात्र भी चिन्तित न होना—मेरी देख-भाल हो जाएगी, और अगर होती नहीं है तो मैं समझूँगा कि मेरा जाने का समय आ चुका है और मैं चल दूँगा।

'हे माधव, लोग तुम्हें बहुत कुछ भेंट करते हैं—मैं गरीब हूँ किन्तु मेरे पास मेरा शरीर, मन तथा आत्मा है। ये सब कुछ तुम्हारे पाद-पद्मों में समर्पित कर रहा हूँ। हे जगन्नाथ, इन्हें तुम अंगीकार कर लो, अस्वीकार न करो।' इस प्रकार मैं चिरकाल के लिए अपना सब कुछ समर्पित कर चुका हूँ। एक बात और। यहाँ के लोग कुछ शुष्क प्रकृति के हैं; सारे जगत् में ऐसे लोगों की संख्या बहुत ही कम है, जो शुष्क न हों। वे लोग 'माधव' को नहीं समझ पाते। या तो वे ज्ञानार्जन भर करना चाहते हैं अथवा झाड़-फूँक से बीमारी दूर करना, टेबिल पर भूत उतारना, डाकिनी विद्या आदि में प्रवृत्त होते हैं। इस देश में 'प्रेम, जीवन, स्वाधीनता' की जितनी बातें सुनाई देती हैं, उतनी मुझे और कहीं भी नहीं सुनाई दीं, परन्तु इन विषयों में यहाँ के लोगों की धारणा जितनी कम है, उतनी और कहीं नहीं है। यहाँ ईश्वर या तो भय का प्रतीक है या रोग दूर करने वाली एक शक्ति अथवा किसी प्रकार का स्पन्दन आदि। प्रभु इनका मंगल करे? और फिर

भी ये लोग दिन-रात तोते की तरह 'प्रेम', 'प्रेम', 'प्रेम' की रट लगाते रहते हैं।

अच्छे सपनों, अच्छी भावनाओं के लिए मेरी शुभ कामनाएँ सदा तुम्हारे साथ हों। तुम अच्छी हो, उदार हो। चेतन को जड़ में परिणत करने के बजाय अर्थात् आध्यात्मिक सत्ता को साधारण लोगों की भाँति स्थूल, भौतिक स्तर पर ले आने के बजाय जड़ को चैतन्य में बदल डालो, हर रोज सुन्दरता, शान्ति तथा पवित्रता के उस जगत की कम से कम एक झलक तो देख ही लिया करो और रात-दिन उसी में डूबे रहने की चेष्टा करती रहो। किसी अतिप्राकृत वस्तु को पाने की कभी चेष्टा न करो, पैर की अँगुलियों से भी ऐसी वस्तुओं का स्पर्श न करो। तुम्हारा मन सर्वदा अविच्छिन्न तैलधारावत तुम्हारे हृदय-सिंहासन निवासी उस प्रियतम के पादपद्मों में दिन-रात रत हो और उसके सिवाय देह आदि की ओर तुम्हारा ध्यान न जाय।

जीवन क्षणस्थायी है, एक क्षणिक स्वप्न, यौवन तथा सौन्दर्य नश्वर हैं। दिन-रात यही जपती रहो—'तुम ही मेरे पिता हो, माता हो, पति हो, प्रिय हो, प्रभु हो तथा ईश्वर हो—मैं तुम्हारे सिवाय और कुछ भी नहीं चाहती, कुछ भी नहीं चाहती, कुछ भी नहीं चाहती। तुम मुझमें हो, मैं तुममें हूँ—तुममें और मुझमें कोई अन्तर नहीं।' धन नष्ट हो जाता है, सौन्दर्य विलीन हो जाता है, जीवन तेजी से समाप्त हो जाता है तथा शक्ति लुप्त हो जाती है, किन्तु प्रभु चिरकाल विद्यमान रहते हैं, प्रेम निरन्तर बना रहता है। यदि इस देह यन्त्र को बनाए रखने में किसी प्रकार का गौरव माना जाय, तो दैहिक कष्टों से

आत्मा को पृथक् रखना उससे कहीं अधिक गौरव की बात है। जड़ के साथ किसी प्रकार का संपर्क न रखना ही इस बात का एकमात्र प्रमाण है कि तुम जड़ नहीं हो।

ईश्वरासक्त हो जाओ। देह का या कुछ और का क्या हो उसकी क्या परवाह? पाप की विभीषिका में यही कहो कि हे मेरे भगवन्! हे मेरे प्रिय! मृत्युकालीन यातना में भी यही कहो कि हे मेरे भगवन्! हे मेरे प्रिय! संसार के सभी पापों में भी यही कहती रहो कि हे मेरे भगवन्! हे मेरे प्रिय! तुम यहीं हो; मैं तुम्हें देख रही हूँ। तुम मेरे साथ हो, मैं तुम्हारा अनुभव कर रही हूँ। मैं तुम्हारी हूँ, मुझे ग्रहण करो। मैं इस जगत् की नहीं हूँ। मैं तो तुम्हारी हूँ, अतः मुझे न त्यागो। इस हीरे की खान को छोड़कर काँच के टुकड़ों को ढूंढ़ने में प्रवृत्त न हो। यह जीवन एक महान् सुयोग है। क्या तुम इसकी अवहेलना कर सांसारिक सुखों में फँसना चाहती हो? वे निखिल आनन्द के मूल स्रोत स्वरूप हैं, उस परम श्रेयस् का अनुसंधान करो, उस परम श्रेयस् को ही तुम्हारे जीवन का लक्ष्य बनाओ और तुम परम श्रेयस् को प्राप्त हो जाओगी।

साशीर्वाद तुम्हारा

विवेकानन्द

पाप और पुण्य

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विभिन्न विषयों पर विचारोत्तेजक तथा उद्बोधक लेख लिखे थे, जो आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। पाठकों के अनुरोध पर उन्हें विवेक ज्योति में क्रमशः प्रकाशित किया जा रहा है। प्रस्तुत लेख 'आकाशवाणी' रायपुर से साभार गृहीत है। स०)

प्रायः सभी धर्म और दर्शन पाप और पुण्य की विवेचना करते हैं, पर यह विवेचन प्रायः इतना जटिल होता है, कि इनसे पाप और पुण्य का स्वरूप स्पष्ट होने के स्थान पर और उलझ जाया करता है। एक ग्रन्थ में पाप और पुण्य की बड़ी सरल परिभाषा दी गई है। वहाँ कहा गया है–'परोपकारः पुण्याय पापाय परपीड़नम्' अर्थात् परोपकार पुण्य है तथा परपीडन पाप। कुछ अतिवादी लोग परपीड़न का ऐसा मतलब लगाते हैं कि कभी किसी को दुःख ही नहीं देना। इससे कई लोग शंका करते हैं कि चोर, डाकू, हत्यारा, लम्पट, व्यभिचारी आदि दुराचारी व्यक्तियों से फिर किस प्रकार व्यवहार किया जाए? उनको दण्ड देना क्या परपीड़न नहीं है? इसका उत्तर यह है कि अन्याय का प्रतिकार और अन्यायी का दमन होना ही चाहिए और यह परपीड़न में न आकर परोपकार में आता है।

कर्मों के तीन प्रकार माने जाते हैं: पहला सामान्य कर्त्तव्य कर्म, दूसरा, पुण्य कर्म, और तीसरा, पाप कर्म। व्यक्ति सर्वदा समाज से सम्बन्धित होता है। उसके विचारों और कर्मों का प्रभाव समाज पर भी पड़ता है।

जब वह अपने और अपने परिवार के सदस्यों के निर्वाह के लिए उचित तरीकों का सहारा लेते हुए अपनी जीवन यात्रा तय करता है, तो उसके ये कर्म सामान्य कर्त्तव्य के अंतर्गत आते हैं। यदि वह अनुचित तरीकों का सहारा लेता है तो वह पाप कर्म करता है और समाज को भी अधोगति की ओर ले जाता है। जो कर्म व्यक्ति और समाज की अवनति करते हैं, वे पाप कर्म की कोटि में आते हैं। दूसरी ओर जिन कर्मों से व्यक्ति और समाज की उन्नति होती है, उन्हें पुण्य कर्म कहते हैं। भर्तृहरि ने इन तीन प्रकार के व्यक्तियों का चित्रण अति सुन्दर रूप से किया है। वे नीति शतक में कहते हैं--

एकै सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थान् परित्यज्य ये।
सामान्यास्तु परार्थ मुद्यमभृतः स्वार्थाऽविरोधेन ये।।
तेऽमौ मानवराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये।
ये तु घ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानी महे।।

भर्तृहरि पुण्यकर्मों को सत्पुरुष कहते हैं। सामान्य कर्मों को सामान्य और पाप कर्मों को मानव-राक्षस। पाप कर्मों की वे एक और कोटि भी बताते हैं जो मानव-राक्षस से भी गई बीती है। उसका नामकरण वे नहीं कर पाते। वे कहते हैं--"एक तो वे सत्पुरुष होते हैं जो अपना स्वार्थ तजकर दूसरों के हित साधन में लगे रहते हैं, दूसरी कोटि सामान्य पुरुषों की है, जो वहीं तक दूसरों की भलाई करते हैं, जब तक उनके स्वार्थ में धक्का नहीं लगता, तीसरी कोटि में मानव-राक्षस आते हैं, जो अपना मतलब साधने के लिए दूसरों का गला घोंटने में भी नहीं हिचकते, पर वे लोग जो अकारण ही दूसरों के हित पर

कुठाराघात किया करते हैं, किस कोटि में रखे जाएँ, मैं नहीं जानता।

वस्तुतः दूसरों का कल्याण करना ही सर्वोच्च पुण्य है। गोस्वामी तुलसीदास ने तो परोपकार को सबसे बड़े धर्म के रूप में माना है। अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ मानस में वे कहते हैं—'परहित सरिस धरमु नहिं भाई।' अर्थात् परोपकार के समान महान् धर्म अन्य कोई नहीं है। इसी प्रकार गोस्वामीजी परपीड़न से अधिक जघन्य पाप भी दूसरा नहीं देखते। वे कहते हैं—'परपीड़ा सम नहिं अध-माहीं।' वस्तुतः पुण्य जहाँ समाज को संगठित और विकसित करता है। वहाँ पाप समाज में विघटन व विश्रृंखलता की सृष्टि करता है। हमारे जो आधार एवं कार्य सामाजिक जीवन को सुदृढ़ बनाते हैं तथा विकसित करते हैं, जो शास्त्रानुकूल और मर्यादित हैं वे ही पुण्य हैं तथा हमारे जिन कर्मों से समाज विघटित होता है, वे ही पाप कहे जाते हैं।

○

श्रीरामकृष्णवचनामृत-प्रसंग

(छब्बीसवां प्रवचन)

स्वामी भूतेशानन्द

(स्वामी भूतेशानन्दजी रामकृष्ण मठ मिशन, बेलुड़ मठ के महाध्यक्ष हैं। उन्होंने पहले बेलुड़ मठ में और बाद में रामकृष्ण योगोद्यान मठ, काँकुड़गाछी, कलकत्ता में अपने नियमित साप्ताहिक सत्संग में 'श्रीश्रीरामकृष्णकथामृत' पर धारावाहिक रूप से चर्चा की थी। उनके इन्हीं बंगला प्रवचनों को संग्रहित कर उद्बोधन कार्यालय, कलकत्ता द्वारा 'श्रीश्रीरामकृष्णकथामृत-प्रसंग' के रूप में प्रकाशित किया गया है। इस प्रवचन-संग्रह की उपादेयता देखकर हम भी इसे धारावाहिक रूप में यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं। हिन्दी-रूपान्तरकार हैं श्री राजेन्द्र तिवारी, जो सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं। —स0)

दक्षिणेश्वर में भक्तों के साथ ठाकुर की ईश्वर चर्चा चल रही है। ठाकुर कह रहे हैं —"संसारी लोग कहते हैं कि काम-काँचन से आसक्ति क्यों नहीं जाती ?" भक्तों के मन में प्राय: यह प्रश्न उठता है कि मन से विषयासक्ति दूर क्यों नहीं होती ? ठाकुर कहते हैं —"यदि एक बार ब्रह्मानन्द मिल जाय, तो फिर इन्द्रिय सुख-भोग, धन मान-सम्मान के लिए मन नहीं दौड़ता।

ईश्वर चिन्तन और अनासक्ति की प्राप्ति

एक प्रकार का वैराग्य होता है, जिसमें मन को विषयों से दूर रखने के लिए प्रयास करके संयम का अभ्यास करना पड़ता है। ठाकुर की भाषा में उसे कहेंगे 'नाक-मुँह बंद करके वैराग्य प्राप्ति'। किसी तरह से इन्द्रियों को विषय से निवृत्त कर लेने पर कुछ तो फल होता है, लकिन आसक्ति दूर नहीं होती। अत: प्रश्न उठता है कि इस आसक्ति को दूर करने का उपाय क्या

है ? उपाय गीता बतलाती है — परमतत्त्व का दर्शन कर लेने पर भोगासक्ति समाप्त हो जाती है। उनका दर्शन कर लेने पर, उन्हें पा लेने पर इन्द्रियासक्ति दूर हो जाती है। क्यों हो जाती है ? इसका उत्तर ठाकुर ने अन्यत्र दिया है। विषय एक छोटा चुम्बक है और भगवान् एक बड़े चुम्बक। दोनों ओर यदि दो चुम्बक रख दिए जाएँ, तो मन किस ओर जाएगा ? जिस चुम्बक की शक्ति अधिक होगी, वही खींच लेगा। उसी तरह भगवान् बड़े चुम्बक हैं। जीव यदि उनके प्रति अधिक आकर्षण अनुभव करे, तो फिर वह दूसरी ओर मन नहीं दे सकेगा। भागवत में एक सुन्दर कवित्वमय वर्णन है। भगवान् जब वंशीध्वनि करते हैं, तब गोपियाँ अपने-अपने गृह-कार्य को त्यागकर उनकी ओर दौड़ पड़ती हैं। कोई भोजन पका रही थी, कोई पति की सेवा कर रही थी, कोई सन्तान को स्तनपान करा रही थी, इस प्रकार से अनेक प्रकार के गृह-कार्यों की व्यस्तता के समय वंशी ध्वनि सुनते ही सबकी सब उसके प्रबल आकर्षण में दौड़ पड़ीं। गृह-कार्य, परिजनों के प्रति कर्तव्य आदि भगवान् के प्रति आकर्षण के सामने अति तुच्छ हैं। उस आकर्षण का प्रतिरोध कर सकनेवाला ऐसा कोई प्रबलतर आकर्षण नहीं है। ठाकुर की अनुपम भाषा में, —"पतिंगा यदि एक बार प्रकाश को देख ले, तो फिर वह अंधकार मे नहीं जाता।"

इस प्रसंग में ठाकुर रावण का दृष्टान्त देते हुए कहते हैं—रावण सीता के मन को हरने के लिएअनेक रूप धारण करता है। किसी ने कहा, तुम मायावी हो, एक बार राम का रूप धारण कर सीता के पास क्यों नहीं जाते ? इस

प्रकार सीता को ठगा जा सकता है। तब रावण कहता है —"तुच्छं ब्रह्मपदम् परवधुसंगःकुतः" । जब मैं राम-रूप का चिन्तन करता हूँ, तब ब्रह्मपद भी तुच्छ लगता है, फिर परस्त्री के संग की इच्छा कहाँ से रहे ? जितना ही भगवान् का चिन्तन होगा, उतनी ही विषयासक्ति कम होगी । जितना ही पूर्व की ओर बढ़ेंगे, उतना ही पश्चिम से दूर होते जाएँगे। तब -विषयों के प्रति आकर्षण नहीं रह जायगा। विषय अपने आप छूट जायेंगे। विषयों में फिर मन को खींचने की क्षमता नहीं रहेगी। ठाकुर की भाषा में, 'सब फीका हो जाता है।' उनका एक और दृष्टान्त है, —'मिश्री का शरबत पी लेने के बाद गुड़ की ओर मन नहीं जाता।' भगवान् को पा लेने के बाद अगर कोई संसार में रहे, तो भी वह जीवनमुक्त होकर विचरण करेगा । गीता कहती है, —'सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते'—वह योगी जहाँ भी रहे, सर्वदा भगवान् में ही रहता है। श्री चैतन्य देव के भक्त अनासक्त होकर संसार में रहते थे। ठाकुर की भाषा में कह सकते हैं, 'उनके पादपद्मों में जितनी ही भक्ति होगी, उतनी ही विषय-वासना कम होगी, देह-सुख की ओर से उतनी ही दृष्टि हटेगी; परस्त्री मातृवत् प्रतीत होगी; स्वयं की पत्नी धर्म-पथ में सहायक मित्र की तरह लगेगी; पशुभाव दूर होगा और देवभाव का उदय होगा, संसार से पूर्णतः अनासक्ति हो जायगी। तब यदि संसार में रहो तो भी जीवनमुक्त होकर मस्त फिरोगे ।"

भक्तों का आचरण तथा व्यवहार

श्री चैतन्यदेव के भक्तों के दो विभाग थे —त्यागी

और गृहस्थ। दोनों के बीच बहुत मधुर सम्बन्ध थे। श्री ठाकुर के गृही और त्यागी भक्तों के बीच भी इसी तरह का मधुर सम्बन्ध देखा गया है, क्योंकि गृहस्थ जानते हैं कि त्यागी सन्तान ठाकुर के प्राणस्वरूप हैं और दूसरी ओर त्यागी सन्तान जानते हैं कि गृहस्थ ठाकुर के अंतरंग भक्त हैं। प्रत्येक भक्त का भगवान् के साथ इसी प्रकार मधुर सम्बन्ध रहने से संसार से विरोध नहीं रहेगा। राय रामानन्द के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वे गृहस्थ थे। भगवान् के लीला-अभिनय करने के समय वे देवदासियों का श्रृंगार अपने हाथों से कर देते थे। हम लोगों को लग सकता है कि यह कैसा आचरण है। लेकिन वे स्त्री-पुरुष की भेद-बुद्धि से रहित होकर, देवदासी का जिस भूमिका में वह अभिनय करने वाली होती, उसी रूप में उसका दर्शन करते थे। निःसंदेह मन यदि खूब ऊँचे सुर में न बँधा रहे, तो यह सम्भव नहीं है. अन्य कोई यदि इस आचरण का अनुकरण करे, तो उस पर विपत्ति अवश्यम्भावी है। इसके दृष्टान्त के रूप में एक घटना बतलाता हूँ, --'कोई एक देवदासी मन्दिर में गीत गोविन्द का गायन कर रही थी। चैतन्य महाप्रभु उस गाने को सुनकर भावावस्था में (उस गायिका को आलिंगन करने) उसकी ओर दौड़े। सेवक गोविन्द ने रास्ता रोककर प्रभु को आलिंगन में बाँध लिया। महाप्रभु रास्ते पर भाव-विभोर होकर चलते थे, इसलिए गोविन्द सदा सतर्क प्रहरी के रूप में प्रभु के निकट रहते थे। भाव उपशम होने के बाद महाप्रभु ने कहा, --"संन्यासी के इस शरीर को आज तुमने बचा लिया। मुझे ज्ञान नहीं था। भाव के वेग में यदि मैं देवदासी का

आलिंगन करता तो तत्काल इस देह का परित्याग करना पड़ता।" महाप्रभु कहते हैं कि इस प्रकार की भाव-विभोर अवस्था में भी ऐसा होने पर उनको देह त्याग करना पड़ता। ऐसा दृष्टान्त न रहने से अनधिकारी के हाथ में पड़कर आदर्श की अवनति हो जाती है। त्यागी और गृहस्थ, दोनों को आदर्शों को निष्कलंक रखना होगा। एक ओर त्यागियों के लिए दृष्टान्त स्वरूप हैं महाप्रभु तथा दूसरी ओर गृहस्थों के लिए दृष्टान्त हैं राय रामानन्द।

ठाकुर चैतन्य लीला का अभिनय देखने गए थे। तब नारी पात्र का अभिनय वारांगनाएँ करती थीं। ठाकुर से यह पूछने पर कि उनका अभिनय कैसा लगा, वे कहते हैं—"असल-नकल एक देखा।" ऐसी दृष्टि भाव के आवेग में होती है। ठाकुर ने वारांगनाओं को साक्षात् आनन्दमयी माँ के रूप में देखा था लेकिन फिर भी व्यवहार में उनको सतर्कता का अवलम्बन करना पड़ा था, जिससे समाज में किसी तरह नैतिक अवनति की सम्भावना का अवसर न आने पावे। देहबुद्धि न रहने पर भी समाज-कल्याण की आदर्श स्थापना करने के लिए उनको भी इतना सतर्क रहना पड़ता है।

सत्ताइसवाँ प्रवचन

श्री ठाकुर महिमाचरण से कहते हैं, "जो ठीक ठीक भक्त है, उसके सामने चाहे जितनी वेदान्त की बातें करो और कहो कि, 'जगत् स्वप्नवत् है,' पर उसकी भक्ति नहीं जाती। घूम-फिरकर कुछ न कुछ रह ही जाएगी। एक मूसल कंटकाकीर्ण वन में पड़ा था, उससे ही "मूषलं कुलनाशनं" हुआ। जो यथार्थ भक्त है, उसके हृदय में

भक्ति दृढ़मूल हो रहती है । ज्ञान-विचार के बाद यदि यह प्रेम-भक्ति कम हो जाय, तो फिर पुनः हू हू करके बढ़ जाती है ।" इस सन्दर्भ में ठाकुर कुछ भक्तों को शिव-अंश और कुछ भक्तों को विष्णु या नारायण का अंश कह कर दो विभागों में बाँटते थे । शिव-अंश में ज्ञान और विष्णु-अंशों में भक्ति--अपनी अपनी प्रकृति के अनुसार भीतर बद्धमूल हो रहती है । अतः कोई भी अपने भाव का परित्याग नहीं कर सकता । कंटकाकीर्ण वन में एक मूसल पड़ा था, उसीसे यदुवंश का नाश हुआ था ।

भक्ति का विनाश नहीं होता

यहाँ यदुवंश की एक कहानी है । ऋषि-मुनियों का उपहास करने के उद्देश्य से यादवों ने शाम्ब को नारी-वेश में सजाकर उनसे पूछा --'कहिए तो, इसके गर्भ में पुत्र का जन्म होगा या पुत्री का ? उनका उद्देश्य हँसी करना था । अन्तर्दृष्टिसम्पन्न ऋषि बोले, --"यह जन्म देगा 'मुषलं कुलनाशनं को"--यह यदुवंश का नाश करने के लिए मूसल को जन्म देगा । सभी भयभीत हो गये, तथा शाम्ब का वेश उतारने लगे, तब उन्होंने देखा कि भीतर से एक मूसल निकला है । यादव श्रीकृष्ण की शरण में गये । उन्होंने प्रभास तीर्थ में स्नान करके ब्रह्म-शाप का खण्डन करने का निर्देश दिया । लेकिन मूसल का क्या होगा ? श्रीकृष्ण बोले, 'उसे घिस-घिसकर समाप्त कर दो ।" उनके ऐसा करने से कुछ घिसा हुआ अंश जल में पड़ गया । फलस्वरूप वहाँ बाण का वन उग आया । अन्त में जो टुकड़ा नहीं घिस पाया, उसे जल मे फेंक दिया गया । लेकिन ब्रह्मशाप वृथा नहीं गया ।

इसके बाद की कहानी दूसरी है। यदुवंशियों की सन्तानें मत्त होकर, उन्हीं बाणों को लेकर परस्पर विवाद कर बैठीं और उन्हीं बाणों से उनका विनाश हो गया।

समुद्र में फेंके हुए मूसल के अंश को एक मछली खा गई। जरा नामक व्याध ने उस मछली के पेट से लोहे का टुकड़ा पाकर उससे तीर का फल बना लिया। इसी बीच भगवान् श्रीकृष्ण ने देखा कि उनका उद्देश्य पूर्ण हो चुका है, यदुकुल का नाश हो गया है। भगवान् के द्वारा संरक्षित होकर यदुकुल के प्रबल प्रतापी हो उठने के साथ-साथ उसमें दुर्नीति भी प्रवेश कर चुकी थी। उनके दीर्घकाल तक जीवित रहने से जगत् का अकल्याण होगा इसलिए भगवान् का उद्देश्य था कि लीला संवरण के पूर्व ही वे इनका ध्वंश कर जाएँगे। समुद्र का तट जैसे समुद्र को संयत करके रखता है, वैसे ही भगवान् ने इनकी शक्ति को संयत करके रखा था। उनके लीला संवरण करते ही ये लोग संसार में प्रलय की सृष्टि करते।

यदुवंश के ध्वंस के बाद का वर्णन अत्यन्त दुःखद है। भगवान् एक वृक्ष के नीचे तने से टिककर विश्राम की मुद्रा में बैठे हुए थे। अब उनका कोई कर्तव्य शेष नहीं था। गीता का गायन हो चुका था, उद्धव को उपदेश-दान दिया जा चुका था। उद्धव सबको हरिनाम सुनाते। इसी समय जरा नामक उसी व्याध ने दूर से भगवान् के पीताम्बर को देख उसे मृग समझकर उस पर बाण चला दिया। उस बाण से भगवान् का श्रीचरण बिंध गया। व्याध ने आकर देखा कि भगवान् श्रीकृष्ण बाण लगने से आहत हो गए हैं। व्याध कातर होकर रोने लगा —'प्रभु, मैंने यह क्या कर लिया?' उसे शान्त

करते हुए भगवान् बोले —'मैं तो लीला संवरण करने के लिए एक निमित्त चाहता था, अतः इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं है।'

संस्कार और साधनापथ

इसीलिए कहा गया, 'मूषलं कुल नाशनं'। इस कहानी के गूढ़ अर्थ को ठाकुर कहते हैं —"भक्त के हृदय में अगर भक्ति रहे, तो ज्ञानरूपी पत्थर पर उसे चाहे जितना भी घिसा जाय, वह मूसल की तरह नष्ट होने का नहीं। भीतर कुछ न कुछ रह ही जाता है और वह फिर से खिल उठता है। इसीलिए ठाकुर श्री विजय कृष्ण गोस्वामी से कहते थे —'तुम्हारे भीतर भक्ति का बीज है, तुम्हें भक्ति के पथ पर लौट आना पड़ेगा। तुम अद्वैत के वंशज हो, उनका बीज कहाँ जायगा ? विष्णु के अंश से जिनका जन्म हुआ है, वह चाहे जिस पथ से क्यों न चलें, उसे भक्ति के पथ पर लौट कर आना ही पड़ेगा। इसी प्रकार, भक्तों में किसका कौन सा मार्ग है, उसका निर्देश कर ठाकुर तदनुसार उपदेश देते थे। सही दिशा-निर्देशन न मिलने से शक्ति का अत्यधिक अपव्यय होता है और समय का भी। यहाँ ठाकुर ने जो 'शिव अंश' और 'विष्णु अंश' कहा है, उसका हम यह अर्थ न लें कि ये दोनों अंश बहुत भिन्न हैं। वास्तव में ये दोनों अंश एक ही उपादान के दो पहलू हैं, वस्तु एक ही हैं। परमेश्वर एक रूप में विष्णु और दूसरे रूप में शिव हैं —इसी प्रकार लीला करते हैं। उनका अनन्त प्रकाश है, अनन्त रूप वैचित्र्य है। हम लोगों के चारित्रिक वैशिष्ट्य के अनुसार यह श्रेणी-विभाग किया गया है। ज्ञान हो या भक्ति—जिसकी जिस ओर प्रवणता

होती थी, ठाकुर उसे उसी पथ पर चलने के लिए उत्साहित करते थे, क्योंकि प्रकृति के अनुसार अपने अपने पथ पर चलने से साधक का कल्याण होगा।

अट्ठाइसवाँ प्रवचन

ठाकुर दक्षिणेश्वर में महिमाचरण आदि भक्तों के साथ ईश्वर चर्चा कर रहे हैं। रावण कहता है, 'रामरूप का चिन्तन करने से ब्रह्मपद भी तुच्छ हो जाता है, तो फिर परस्त्री के प्रति आसक्ति कहाँ रह पायेगी?' इस बात से मन में प्रश्न उठता है कि तब तो रामरूप का चिन्तन करना या रामचन्द्र की उपलब्धि करना ब्रह्मज्ञान से ऊँचा है? पर वास्तव में यह ऊँचे-नीचे या उत्कृष्ट-निकृष्ट की बात नहीं है। शास्त्र कहता है,— 'अन्य निन्दा अन्यस्तुतये', एक की निन्दा की गई, दूसरे की स्तुति करने के लिए। इसके अलावा इसमें अतिशयोक्ति भी है। यह अध्यात्मशास्त्र की नहीं, केवल अलंकारशास्त्र की दृष्टि से है। किसी बात पर जोर देने के लिए यह सब कहना पड़ता है। 'रामरूप का चिन्तन करने से ब्रह्मपद तुच्छ हो जाता है' —यह कहने में यहाँ पर 'ब्रह्मपद' का अभिप्राय है 'ब्रह्मस्वरूपता की प्राप्ति'। भक्त ब्रह्मस्वरूपता नहीं चाहता। वह ईश्वर से अलग रह कर ईश्वर का आस्वादन करना चाहता है जैसा कि रामप्रसाद कहते हैं —'माँ, मैं शक्कर होना नहीं चाहता, मैं शक्कर खाना चाहता हूँ। यह है भक्त की रुचि, भक्त इस प्रकार भगवान् का आस्वादन करना चाहता है।

साधकों की विभिन्न प्रकृति

यहाँ पर भक्त जिस अवस्था की कामना करता है

और ब्रह्मज्ञान की जो अवस्था है, इन दोनों में तुलना नहीं हो सकती। क्योंकि ज्ञानी ब्रह्मज्ञान चाहता है और भक्त ब्रह्मज्ञान नहीं चाहता। प्रश्न यह नहीं है कि कौन बड़ा है और कौन छोटा। यहाँ पर वे स्वयं जैसे नित्य हैं, उनकी लीला भी वैसी ही नित्य है। जो जिस स्वरूप को चाहता है, उसके लिए वही बड़ा है। जो जिस भाव को चाहता है, उसके लिए वही भाव उत्कृष्ट है। उसके लिए अन्य भाव का आस्वादन करने की चेष्टा, मानो अनधिकार चेष्टा होगी। और वह उसके लिए मनोनुकूल भी नहीं होगा। हनुमान का दास्यभाव है। उनसे यदि कहा जाय कि आप मधुर भाव का आस्वादन क्यों नहीं करते, तो शायद वे यही कहते कि वह भाव मेरा काम्य नहीं है, उसमें मेरी रुचि नहीं है। यद्यपि भक्तिशास्त्र में शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर भावों को क्रमशः एक के बाद एक को बढ़कर बताया गया है, पर फिर भी शास्त्र यह कहते हैं कि जो जिस भाव का अवलम्बन करता है उसके लिए वही श्रेष्ठ है। ज्ञानी के लिए ब्रह्मपद ही एकमात्र काम्य है, इस दृष्टि से ज्ञानी के लिए 'राम रूप' तुच्छ है।

यहाँ पर विचार करके स्पष्ट रूप से यह नहीं बताया जा सकता कि कौन सा भाव श्रेष्ठ है और कौन सा तुच्छ। यद्यपि ऐसा करने की चेष्टा की गई है तथा उसे लेकर न जाने कितने समय से द्वन्द्व चला आ रहा है। एक कहता है, मेरा भाव श्रेष्ठ है, दूसरा कहता है मेरा। असल बात यह है कि भगवान् के समान ही भगवान् के भावों का भी कोई अन्त नहीं है। व्यक्ति चाहे जिस भाव को ग्रहण करे, वह उसका पार नहीं पा सकता। भगवान्

का आस्वादन करके उसे समाप्त नहीं किया जा सकता। अतः श्रेष्ठता-निकृष्टता का विचार अनावश्यक है। जिस भक्त के लिए वे जिस भाव में आस्वादन योग्य हैं, उसके लिए वही उत्कृष्ट है, क्योंकि वे वही चाहते हैं। इसीलिए देखा जाता है कि ठाकुर ने अपने पार्षदों के बीच एक के द्वारा अनुसृत भाव को दूसरे को अनुसरण करने से मना किया है और कहा है, वह तुम्हारा भाव नहीं है। उनके भक्तों ने उनके साथ जैसा व्यवहार किया है, उनके साथ वे भी वैसा ही व्यवहार करते। वे कहते—'जिसका जो भाव है, वह उसकी रक्षा करते हुए चले। किसी स्थान पर वे उसके व्यतिक्रम की चेष्टा करते हुए चले। किसी स्थान पर वे उसको व्यतिक्रम की चेष्टा करते हुए देख उसे सतर्क कर देते। वहाँ पर वे यह नहीं कहते थे कि यह ऊँचा है या नीचा है, बस इतना ही कहते कि वह भाव तुम्हारा नहीं है। यहाँ पर ब्रह्म-पद की तुच्छता नहीं कही गई है, अपितु एक की स्तुति करने के लिए दूसरे की निन्दा की गई है। रामरूप की स्तुति करने के लिए ब्रह्मपद की निन्दा की गई है। ठीक इसी तरह से यह भी कहा जायगा कि ज्ञानी के सामने रामरूप तुच्छ है। कोई भी भाव निरपेक्ष नहीं है। जिसका जो आदर्श है, वही उसका भाव है। उसीका अवलम्बन करके उसे चलना होगा। और जब किसी व्यक्ति या साधक के स्थान पर केवल स्वरूप की बात कहने की चेष्टा की जाती है, तब कुछ बोला नहीं जा सकता, क्योंकि सिद्ध के लिए भक्त-भगवान् उपास्य-उपासक का कोई प्रश्न ही नहीं होता। उपास्य भगवान् में वैचित्र्य होगा तथा उपासक उसमें भिन्न

होगा, ऐसा हम समझते हैं । ब्रह्म जब उपास्य हुए, तब जो साधक ब्रह्म की उपासना करता है, वह निश्चय ही ब्रह्मरूप में प्रतिष्ठित नहीं है, इसीलिए वह ब्रह्मरूप की उपलब्धि के लिए चेष्टा करता है । अतः वह उससे भिन्न है, यह प्रतीति उसे होती है । लेकिन यदि वह चाहे उपासना के द्वारा हो या ज्ञानचर्चा करके हो, अथवा अन्य किसी प्रकार से, अपने क्षुद्रत्व की सीमा का अतिक्रमण कर सके तो वह ब्रह्मस्वरूप हो जाता है । पर जब तक वह ब्रह्मस्वरूप नहीं हो जाता, तब तक व्यावहारिक दृष्टि से ब्रह्म से भिन्न रहता है । ऐसा यदि न हो तो कौन किसकी उपासना करेगा ? प्रत्येक साधक को अपने पथ के प्रति पूरी आस्था रखकर, पथ को दृढ़ सत्य जानकर चलना होगा । अपने पथ पर श्रद्धा न रहने पर कोई आगे नहीं बढ़ सकता । जैसे, कोई उपासक यदि तत्त्व की दृष्टि से यह विचार करेगा कि सभी मिथ्या है, तो क्या वह यह कहेगा, कि मिथ्यारूप माँ काली, तुम मुझे यह दो वह दो ? मिथ्या वस्तु से क्या कोई प्रार्थना करेगा ? अतः यह उसकी दृष्टि नहीं है । जो ब्रह्मज्ञान का अनुशीलन करता है वह क्या यह कहेगा कि जिस अनुशीलन द्वारा मैं ब्रह्म की उपलब्धि करूँगा, वह मिथ्या है ? न, वह तो उस अनुशीलन को ही सत्य मानकर आगे बढ़ेगा । वहाँ ऊँच-नीच का कोई पार्थक्य नहीं है । अपने अपने भाव के अनुसार आस्वादन करना होगा ।

श्रीरामकृष्ण की उपलब्धि और उपदेश

इस सम्बन्ध में ठाकुर कहते हैं—"मैं चरपरा भी खाता हूँ, तथा रसेदार भी खाता हूँ, और खट्टा-चटपटा भी खाता हूँ । मुझे एक ढर्रे का भाव

पसन्द नहीं है। मैं उनको सभी भावों में आस्वादन करना चाहता हूँ और फिर रूप-अरूप का भी आस्वादन करता हूँ।" यह विलक्षण भाव एकमात्र ठाकुर का ही है, जो अन्यत्र कहीं देखने में नहीं आता। अन्य साधक अधिक से अधिक किसी एक भाव या किसी एक साँचे में अपने आपको ढाल पाते हैं, तो उसीसे उनका जीवन धन्य हो जाता है। लेकिन ठाकुर के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं है। वे तो समस्त जगत् को यह दिखाना चाहते थे कि जितने साँचे हैं, वे सभी सत्य हैं; इसीलिए वे स्वयं को सभी साँचों में ढालकर दिखा देते हैं कि इस प्रकार से भी होता है और उस प्रकार से भी। और यहीं पर श्रीरामकृष्ण का श्रीरामकृष्णत्व है।

किन्तु यह सबके लिए नहीं है। साधारण साधकों के लिए इष्ट-निष्ठा आवश्यक है। उसका मन छोटा होता है, इसलिए उसके द्वारा वह सबकी धारणा नहीं कर सकता। अतः वह अपने इस छोटे से मन के द्वारा किसी एक भाव में अपने को मग्न कर सके, तो उससे ही उसका जीवन पूरी तरह धन्य हो जायगा। लेकिन जो संसार के सभी प्रकार के लोगों को उनके अपने अपने मार्ग पर आगे बढ़ाते हुए ले जाने के लिये आये हैं, उनका केवल एक ढर्रे का होने से काम नहीं चलेगा। उनको तो सभी भावों की जानकारी चाहिए, सभी भावों से सम्पूर्ण रूप से परिचित होकर ही तो वे सबको उनके अपने रास्ते से ले जा सकेंगे। वे अवतार हैं इसलिए सर्वज्ञ हैं, यह कहना भी यथेष्ट नहीं है। उनके लिये तो स्वयं विभिन्न भावों की साधना करके उनका समग्र स्वरूप जगत को दिखा देना आवश्यक है, तभी तो लोग उनसे साधना की

अनुप्रेरणा प्राप्त करेंगे, और उस पथ पर आगे बढ़ेंगे। ऐसा न होने से भगवान् परिपूर्ण होकर भी हम लोगों की सहायता नहीं कर पा रहे हैं, क्योंकि वे हमारी धारणा से बाहर हैं। जब वे मनुष्य शरीर धारण करके हमारे बीच में आते हैं, हम लोगों के समान ही साधना करके, सिद्धि लाभ करके दिखा देते हैं कि किस प्रकार से सिद्धि लाभ होता है। तब हम समझ पाते हैं कि जब उन्हें सफलता मिली है, तो हमें भी मिल सकती है। ठाकुर कहते हैं --"तूने रामप्रसाद को दर्शन दिया, कमलाकान्त को दर्शन दिया, अब मुझे क्यों नहीं देगी ?" यह है उदाहरण प्रस्तुत करना। यदि उन्होंने श्रीरामकृष्ण को दर्शन दिया, तो हमें भी देंगे। इसीलिए अवतार को साधना करनी पड़ती है। अवतार सिद्ध होकर भी, पूर्ण होकर भी देह धारण करके आते हैं तथा विभिन्न भावों को आदि से अन्त तक दिखा जाते हैं। वे सहज ज्ञान लेकर आते हैं, पर उन्हें उसे नये रूप में अभिव्यक्त करके सबके सामने उदाहरण के रूप में रखना पड़ता है। तब यह बात जैसे ज्ञान के सन्दर्भ में है, वैसी ही भक्ति के विभिन्न भावों के सन्दर्भ में भी। सभी भावों में वे अपना विकास करके दिखा देते हैं --यह देखो, इस मार्ग में इस प्रकार से जाना होगा, इसमें ये-ये बाधाएँ हैं, ये लक्षण हैं, इस प्रकार वहाँ पहुँचना होगा, पहुँचने पर इस प्रकार अनुभव होता है। प्रत्येक भाव को वे इसी प्रकार साधक को दिखा देते हैं।

ठाकुर एक दृष्टान्त देते हैं -- पक्षी जब अपने बच्चे को उड़ना सिखाती है तब वह स्वयं एक डाल से दूसरे डाल पर उड़ कर जाती है। फिर उड़ते-उड़ते और

एक अन्य डाल पर बैठ कर बच्चे को भी उसी प्रकार थोड़ा थोड़ा उड़ना सिखाती है। यदि वह सीधे आकाश पर उड़ जाती तो उसका बच्चा कभी भी उड़ना न सीख पाता। ठीक इसी प्रकार अवतार स्वयं अपने जीवन में साधना करके दिखा देते हैं कि किस तरह से एक-एक पाँव बढ़ाते हुए आगे बढ़ना होता है। वे इसी प्रकार दिखा देते हैं; इसीलिए तो वे अवतार हैं; इसीलिए हमें उनकी आवश्यकता है। वे यदि इस तरह न दिखा देते, तो हमारे जीवन में उनके अवतारत्व की कोई सार्थकता नहीं रह जाती। उनके पास रहते हुए भी हम कुछ लाभ न उठा पाते। इसीलिए उनकी साधना है। श्रीरामकृष्ण ने इसी तरह सभी प्रकार की साधना करके दिखा दिया है कि भावों में कोई ऊँचा-नीचापन या उत्कृष्टता-निकृष्टता नहीं है। जो जिस भाव का साधक है, वह उसी पथ का अनुसरण कर परिपूर्णता का लाभ करता है। इसमें तारतम्य का कोई प्रश्न नहीं है।

अन्त में यहाँ पर ठाकुर ने कहा है—"जो शिव अंश से जन्म लेता है, वह ज्ञानी होता है। उसका मन सदा "ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या" बोध की ओर ही जाता है। विष्णु अंश से जन्म लेने पर प्रेम-भक्ति होती है।" एक ही परमेश्वर एक रूप में शिव और दूसरे रूप में विष्णु हैं—इसी प्रकार लीला करते हैं। एक ही परमेश्वर के सब विभिन्न प्रकाश हैं। उनके भीतर ऊँच-नीच कुछ भी नहीं है; केवल चरित्र का वैशिष्ट्य है, प्रकाश के तारतम्य के अनुसार अपने को ढालने के लिए दो साँचे हैं, एक ज्ञान का और दूसरा भक्ति का, लेकिन वस्तु वही एक परमेश्वर ही है। ○

स्वामी विवेकानन्द और भारत का भविष्य

स्वामी रंगनाथानन्द

(रामकृष्ण मठ, हैदराबाद)

(स्वामी रंगनाथानन्दजी रामकृष्ण मठ मिशन के उपाध्यक्ष हैं। उनका मूल अँगरेजी लेख 'डेली गजट', कराँची के स्वानधीता दिवस विशषांक में 15 अगस्त 1947 को प्रकाशित हुआ था। तब वे कराँची-स्थित रामकृष्ण मिशन के प्रमुख थे। आज उस लेख को हिन्दी में रूपान्तरित कर प्रकाशित करने का कारण यह है कि जिस मुसलिम साम्प्रदायिकता के फलस्वरूप पाकिस्तान का जन्म हुआ था, उसके सन्दर्भ में 33 वर्ष पूर्व लिखा यह लेख आज भी उतना ही सामयिक है, क्योंकि भारत में मुसलिम साम्प्रदायिकता की आग बुझी नहीं है, वह केवल दबी हुई सुलग रही है और अवसर पाते ही भड़क उठती है। इस समस्या के सन्दर्भ में विद्वान् लेखक ने जो सशक्त चिन्तन किया है, वह सबके लिए मननीय है। मूल लेख का हिन्दी में रूपान्तर किया है ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी ने। —स.)

जहाँ तक भारत का प्रश्न है, १५ अगस्त १९४७ उसके एक युग का समापन है और दूसरे युग का विहान।

प्लासी के साथ १७५७ में जो विदेशी प्रभुत्व प्रारम्भ हुआ था, आज ठीक १९० वर्ष बाद उसका अन्त हो गया। भारत के सुदीर्घ इतिहास की पृष्ठभूमि में देखने पर राजनैतिक गुलामी का यह युग एक अल्प-सा अन्तर्काल है। हमारे इतिहास में इस अन्तर्काल के यथार्थ महत्त्व का मूल्याकन तभी हो सकता है, जब हम उससे समय में कुछ दूरी पर स्थित हों। तभी घटनाओं का वस्तुपरक विचार सम्भव हो सकता है। महान् मनीषियों के अतिरिक्त अन्य किसी के लिए घटनाओं को जीते हुए उनका निरपेक्ष विचार करना कठिन ही होता है। अतएव

ऐसी घटना का रूप इस प्रकार के मनीषी के लिए उससे भिन्न होगा, जो एक सामान्य व्यक्ति को दिखायी देता है।

एक सामान्य व्यक्ति के लिए राजनैतिक गुलामी कोई विशेष अर्थ नहीं रखती, यदि वह उसके दैनिक जीवन के क्षुद्र दायरे को प्रभावित न करती हो। पर जब वही व्यक्ति राजनैतिक रूप से जागरूक हो जाता है, तो ऐसी गुलामी उसे असह्य हो उठती है। तब वह उसके स्वातंत्र्य और स्वाभिमान के नवोपलब्ध मूल्यों के साथ टकराने लगती है। इन मूल्यों के प्रति सजगता के उदय से वह एक राजनैतिक अस्तित्व बन जाता है-- एक ऐसा अस्तित्व, जो स्वतंत्रता को केवल भौतिक और शारीरिक सुरक्षा से अधिक महत्त्व देता है। यहाँ से मनुष्य के जीवन में आध्यात्मिक और नैतिक मूल्यों की स्फुरणा प्रारम्भ होती है और उसके प्रारम्भिक नैतिक एवं आध्यात्मिक व्यक्तित्व का विकास शुरू होता है। यही आगे चलकर जीवन में राजनैतिक शिक्षा तथा स्वातंत्र्यरूप मूल्य के तीव्रता से अनुसरण के फलस्वरूप उस परिपूर्ण सामाजिक परिणाम के रूप में सामने आता है, जिसे हम 'नागरिक' कहते हैं। इस नागरिक का विकास ही राजनीति का अन्त है और साथ ही सर्वोच्च सामाजिक लक्ष्य भी।

दुहरा आक्रमण

१९ वीं शताब्दी की राजनैतिक दासता को भारत के बहुसंख्य हिन्दुओं और मुसलमानों ने न्यूनाधिक मात्रा में स्वीकार कर लिया था, क्योंकि वे इसमें शान्ति के युग का सूत्रपात देखते थे। उन्हें विगत शताब्दियों की अनिश्चितताओं का कड़ुवा अनुभव था और वे ब्रिटिश

सल्तनत में इन अनिश्चितताओं से मुक्ति देखते थे। उन्हें लगता था कि इसमें हमारा, जान-माल सुरक्षित है। पर यह तो मात्र एक स्थिति थी और वह भी अल्पकाल के लिए। राजनैतिक गुलामी दो प्रकार से चुनौती बन जाती है—एक तो तब, जब वह सांस्कृतिक विरासत की जड़ खोदने का प्रयास करती है और दूसरे तब, जब वह लोगों के कार्य-कलापों पर नियंत्रण लगाना शुरू करती है। जिन लोगों में तेज और शक्ति का अन्दरूनी भण्डार होता है, वे तो इस चुनौती का सामना करने के लिए खड़े हो जाते हैं, पर जिन लोगों में ऐसा बल नहीं होता, वे इसे सहज रूप से स्वीकार कर लेते हैं और एक जाति के रूप में विश्व के इतिहास से मिट जाते हैं, फिर भले ही वे लोग अलग-अलग व्यक्ति के रूप में नयी आत्मा और नया शरीर लेकर जीते रहते हों। विश्व के इतिहास में इस प्रकार की जाति का अभाव नहीं है। भारत को दो दिशाओं से चुनौती का सामना करना पड़ा—एक तो सांस्कृतिक और दूसरी, सामाजिक-राजनीतिक। भारत इन चुनौतियों का सामना करने के लिए उठ खड़ा हुआ, पहले संस्कृति के क्षेत्र पर और फिर राजनीति के। मोटे तौर पर १९ वीं शताब्दी का दूसरा भाग सांस्कृतिक मुठभेड़ की गाथा कहता है, जबकि इस शताब्दी का पहला भाग राजनैतिक मुठभेड़ की। और इससे भारतीयों तथा उनकी विरासत की अन्तर्निहित शक्ति का परिचय मिलता है। इस उभयविध प्रक्रिया और उससे इतने अल्प समय में प्राप्त अभूतपूर्व सफलताओं की रोमांचक गाथा में हाल के भारतीय इतिहास का रोमांस तथा विश्व के लिए उसका महत्त्व समाया हुआ है।

सांस्कृतिक चुनौती

पश्चिम से आये नव साँस्कृतिक चुनौती का सामना करने के लिए उठ खड़े हुए भारत की एक उल्लेखनीय विशेषता पर अच्छी तरह बल दिया जाना चाहिए; क्योंकि उसमें एक ऐसी प्रबल संश्लेषण-शक्ति का समावेश है, जिसने उसे दूसरी चुनौती का सामना करने में अर्थात् राजनैतिक स्वतंत्रता प्राप्त करने में अपनी सुगन्धि प्रदान की है, और जो उसके गृह तथा वैदेशिक सम्बन्धों के क्षेत्रों में भी अपने सफल उपयोग की क्षमता रखती है। यह उल्लेखनीय विशेषता है उसका स्वीकृति, समन्वय और ग्रहण का स्वर--अपवर्जन का नहीं। यह नये भारत की जागरूकता और गतिशीलता का वैशिष्ट्य है। पूर्व की अवस्थाओं में जो मात्र प्रतिक्रियावादी (केवल शाब्दिक अर्थ में प्रयुक्त) था, बहुधा अपराध की भावना से जुड़ा हुआ और निषेधात्मक था, वह विचारों के एक रचनात्मक आन्दोलन में रूपान्तरित हो जाता है और किसी भी परखे हुए मानवीय मूल्य को दृढ़तापूर्वक अनुमोदित करने तथा संश्लिष्ट करने में तत्पर हो जाता है, भले ही वह मूल्य पूर्व में विकसित हुआ हो या पश्चिम में, वह वैज्ञानिक हो या धार्मिक, राजनैतिक हो या सामाजिक।

स्वामी विवेकानन्द हमारे इस सांस्कृतिक आन्दोलन के सबसे प्रभावी प्रवक्ता और प्रतिनिधि के रूप में सामने आते हैं। वे उन लोगों में से एक थे, जिन्होंने अँगरेजों के साथ भारत के सम्बन्ध को हमारे समाज की जमी हुई गतानुगतिकता की परतों एवं सभ्यता को तोड़ने का सशक्त साधन माना, जिससे हमारा समाज उदार हो सके।

उनके व्यक्तित्व में अतीत और वर्तमान का, प्राचीन विद्या और आधुनिक ज्ञान का सुन्दर योग हुआ था। वे हमारे अतीत के गौरव से परिचित थे; हमारा आज का पतन उनके हृदय की गहराइयों पर चोट करता था। वे कट्टर हिन्दू थे; साथ ही वे दूसरे धर्मों के प्रति भी आदर और श्रद्धा रखते थे। इसलाम और ईसाई धर्मों के सामाजिक सन्देश से तथा उसका भारतीय जीवन और चिन्ताधारा के सन्दर्भ में जो मूल्य था, उससे उनकी अनुरक्ति थी। सर्वोपरि उनका हृदय आधुनिक विचारधारा के भाव से, विज्ञान के क्षेत्र में उसकी राजनैतिक एवं आर्थिक देनो से तथा जीवन और समाज के क्षेत्र में उसकी राजनैतिक एवं आर्थिक देनों से उद्दीप्त था। अन्त में, पर यह कम महत्त्व का नहीं था, वे आधुनिक सन्दर्भ में मानवी सम्बन्ध के अन्तर्राष्ट्रीय स्वभाव को अच्छी तरह जानते थे। उनकी भूमिका ऐसे किसी प्रतिक्रियावादी देशभक्त की नहीं थी, जो अपने देश को दूसरी जातियों के संसर्ग से दूर ले जाना चाहता हो, अथवा जो दूसरे राष्ट्रों की स्वतंत्रता के ऊपर अपने राष्ट्रवाद का रथ हाँकना चाहता हो। वे भारत को प्यार करते थे, पर मानवता को भी वे समान उत्कटता से चाहते थे। अपने एक पत्र में वे पूछते हैं, "हमारे लिए भारत या इंग्लैण्ड या अमेरिका क्या है?" और वे मानव की गरिमा में, जो संकीर्ण घरेलू दीवारों द्वारा विभक्त नहीं हुआ है, अपनी दृढ़ निष्ठा को उद्घोषित करते हुए आगे लिखते हैं, "हम उस ईश्वर के दास हैं, जो अज्ञानी के द्वारा 'मनुष्य' कहलाता है।" और हम इसमें अपनी ओर से जोड़ सकते हैं—"और जिसे अधिक अज्ञानी व्यक्ति

हिन्दू, मुसलिम, ईसाई अथवा भारतीय, रूसी या अमेरिकन आदि कहता है।"

जवाहरलाल नेहरू स्वामी विवेकानन्द के व्यक्तित्व के इस पहलू के प्रति अपना सम्मान व्यक्त करते हुए कहते हैं--"अतीत में अपनी जड़ लिये तथा भारत की विरासत के प्रति गौरव से भरे हुए स्वामी विवेकानन्द जीवन की समस्याओं के प्रति अपने दृष्टिकोण में आधुनिक थे और वे भारत के अतीत तथा उसके वर्तमान के बीच एक सेतु के समान थे।" ('द डिस्कवरी ऑफ इण्डिया', पृष्ठ ४००)

नेहरू स्वयं अन्तर्राष्ट्रीयवादी थे, वे गहरी प्रशंसा करते हुए स्वामी विवेकानन्द के भाषणों से मानवजाति की एकता के सम्बन्ध में निम्नलिखित उद्धरणों को प्रस्तुत करते हैं--

"राजनीति और समाज शास्त्र के क्षेत्र में भी, जो समस्याएँ बीस वर्ष पहले मात्र राष्ट्रीय थीं, उन्हें अब केवल राष्ट्रीय आधार पर ही हल नहीं किया जा सकता। वे विशाल आकार, विराट् रूप धारण कर रही हैं। उनका समाधान तभी हो सकता है, जब उनको अन्तर्राष्ट्रीय आधार के अधिक व्यापक आलोक में देखा जाय। आज की माँग है---अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ, अन्तर्राष्ट्रीय मेल-जोल, अन्तर्राष्ट्रीय कानून। यह सामाजिक ऐक्य प्रदर्शित करता है। कोई देश तब तक प्रगति नहीं हो सकता, जब तक उसके पीछे पीछे सारा संसार प्रगति नहीं करता। और यह दिन-प्रतिदिन स्पष्ट होता जा रहा है कि किसी भी समस्या का समाधान वंशीय या राष्ट्रीय या संकीर्ण आधार पर कभी नहीं हो सकता। प्रत्येक विचार को इतना व्यापक होना चाहिए कि वह समूचे संसार को ढक

ले, प्रत्येक महत्त्वकांक्षा को इतना बढ़ना चाहिए कि वह समूची मानवता को,——नहीं, समूचे जीवन को ही अपनी व्याप्ति में ले ले।" ('द डिस्कवरी ऑफ इण्डिया,' पृष्ठ ४०१-२ पर उद्धृत)

स्वामी विवेकानन्द इस कसौटी पर भारत के हाल के बीते अतीत को कसते हुए तथा अपने देशवासी हिन्दू और मुसलमान दोनों को एक सीख और चेतावनी देते हुए घोषणा करते हैं——

"मुझे इसका पूरा विश्वास हो गया है कि कोई भी व्यक्ति या राष्ट्र अपने को दूसरों के समुदाय से अलग रखकर नहीं जी सकता, और जब भी महानता, नीति अथवा पवित्रता की थोथी आड़ में ऐसा प्रयत्न किया गया है, उसका परिणाम अपने को अलग रखनेवाले राष्ट्र के लिए हरदम सर्वनाशी हुआ है। हमारे पतन का कारण यह रहा कि हमने संसार के अन्य राष्ट्रों से अपने को विच्छिन्न कर लिया। इस रोग को दूर करने का एकमात्र रास्ता है अन्य राष्ट्रों की धारा में पुनः अपने को ले आना। गति ही जीवन का चिह्न है।" ('द डिस्कवरी ऑफ इण्डिया', पृष्ठ ४०२ पर उद्धृत)।

जो शब्द ऊपर उद्धृत किये गये हैं, वे ५० वर्ष (अब ८० वर्ष) पहले उद्गीरित हुए थे; पर उनमें आज भी वही ताजगी और शक्ति है। स्वामी विवेकानन्द के दिनों में विश्व की घटनाओं में भारत सक्रिय तत्त्व नहीं था। उसकी अतीत की गरिमा भले ही कई पश्चिमी विद्वानों की सहानुभूतिपूर्ण चर्चा और अध्ययन का विषय रही हो, पर सामान्य तौर पर भारत की दुरवस्था विश्व के लिए एक तरस का ही विषय थी। उसकी स्वयं की

सन्तानें भी अपनी इस वृद्ध और जीर्ण माता के प्रति एक प्रकार से तरस ही खाती थीं।

पर यह सब शीघ्र बदल गया। अपने विजित होने का आघात और गुलामी की ग्लानि ऐसी थी, कि उसने उसकी भीतरी ज्वाला को बुझाने के बदले भड़का दिया। कई राष्ट्रों में पराजय ने उनकी भीतरी आग को दबा दिया। भारत के लिए भी कई लोगों ने ऐसा ही सोचा था, पर यहाँ पर उल्टा हुआ। पराधीनता की कचोट ने ऐसी आग भड़कायी कि विचार और सक्रियता मानों भारत के हृदय से फूट निकले और फलस्वरूप राष्ट्रीय पुनरुत्थान की यथार्थ प्रक्रिया का सूत्रपात हुआ। यह जागरण पहले आत्म-प्रत्यय की प्रक्रिया से गुजरा और तदनन्तर आत्माभिव्यक्ति की।

गृहनीति

भारत के सन्दर्भ में आत्म-प्रत्यय की प्रक्रिया को आज १५ अगस्त १९४७ को चोटी पर पहुँचा माना जा सकता है, जब उसे पूर्ण राजनैतिक आजादी हासिल हुई है। इससे जो शक्ति-ऊर्मियाँ निःसृत हुई हैं, वे अब से रचनात्मक आत्माभिव्यक्ति की और भी सघन प्रक्रिया में कार्यशील बनेंगी। विवेकानन्द एक व्यक्ति के रूप में भारत को विश्व सांस्कृतिक शक्तियों की धारा में ले गये। विवेकानन्द एक भाव के रूप में भारतवासियों को एक सूत्र में ग्रथित कर भारत को राष्ट्रों के विश्व समुदाय में प्रवेश करने के लिए मार्गदर्शन देते हैं। विवेकानन्द की धारणा थी कि भारत में इतिहास से उपलब्ध वह आवश्यक क्षमता है, जिसके बल पर वह राष्ट्रों के नैतिक नेता के रूप में कार्य कर सकता है।

आज की नयी जागतिक अवस्था भी विश्व के राष्ट्रों की ऊर्जाओं को समुचित दिशा प्रदान करने के लिए एक सुदृढ़ और सबल नैतिक पथ-प्रदर्शन की माँग करती है। पर वे यह भी मानते थे कि भारत तब तक वह भूमिका नहीं ग्रहण कर सकता और उसका प्रभावी रूप से निर्वाह नहीं कर सकता, जब तक कि वह पहले अपने भीतर ही कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नहीं कर लेता। यही उनका वह विषय-क्षेत्र है, जिसे उन्होंने अपनी विशिष्ट शैली में 'गृहनीति' कहा है। इसके द्वारा वह जिस विश्व-उत्तरदायित्व को स्वीकार कर उसका निर्वाह करेगा, उसे वे अपनी 'विदेश नीति' कहा करते थे।

विश्व घटनाओं में भारत की प्रभावी सहभागिता की तीन पूर्व शर्तें हैं—राजनैतिक स्वातंत्र्य, आर्थिक उन्नति और सामाजिक सुदृढ़ता। आज प्रथम शर्त की पूर्ति के साथ अब दूसरी और तीसरी शर्तों को पूरा करने का समय आया है। विवेकानन्द पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने उस हानि की ओर हमारी दृष्टि आकर्षित की, जो आर्थिक पिछड़ेपन और सामाजिक विभेद के कारण हमारे देशवासियों के आध्यात्मिक और नैतिक व्यक्तित्व को हुई है। अनैच्छिक निर्धनता, उनके मत से, अनाध्यात्मिक और अनैतिक है। धर्म, उनकी दृष्टि में, खाली पेटवालों के लिए नहीं है। सामाजिक विषमताएँ और अस्वास्थ्यकर धर्म-तंत्र राज-निकाय पर कोढ़ हैं। अपने भारत के भ्रमण में वे व्यक्तिगत रूप से भारत के क्षीणकाय और विच्छिन्न कर दिये गये शरीर और मन के घनिष्ठ सम्पर्क में आये। इससे पूर्व अपने गुरुदेव श्रीरामकृष्ण के माध्यम से तथा भारत के साहित्य और

इतिहास के अपने अध्ययन के द्वारा वे भारत की अमर और शाश्वत आत्मा के सम्पर्क में आये थे। उन्होंने पाया कि आदर्श और यथार्थ सर्वथा भिन्न हैं, और उन्होंने अपनी समूची शक्ति यथार्थ को आदर्श तक पहुँचाने में लगा दी। आधुनिक भारत की समस्या को ढूँढ़ निकालने और उसका समाधान पाने के लिए उन्हें तीव्र दुःख और वेदना में से गुजरना पड़ा। अपने देशवासियों को अपनी टीस और अपना निश्चय प्रदान करने में उन्हें अकाल मृत्यु का सामना करना पड़ा। आज भारत के मानस और मुखड़े पर विवेकानन्द के हृदय और निश्चय की निर्मूल छाप दिखायी पड़ती है। विवेकानन्द की प्रतिभासम्पन्न अँगरेज शिष्या भगिनी निवेदिता लिखती हैं—

"फिर भी गुरुदेव के स्वभाव में एक बात बहुत गहरी थी, जिसके लिए वे कभी समझौता करना नहीं जान सके। और वह थी अपने देश के लिए उनका प्यार और उसके दुःख-कष्टों के कारण उनका रोष। उन सभी वर्षों में जब मैंने उन्हें लगभग प्रतिदिन देखा, भारत का विचार उनके लिए श्वास-प्रश्वास की हवा के समान था। सत्य है, वे नींव में काम करने वाले व्यक्ति थे। उन्होंने न तो 'राष्ट्रीयता' शब्द का प्रयोग किया, न ही 'राष्ट्र-निर्माण' के युग की उद्घोषणा की। उनकी दृष्टि में 'मनुष्य-निर्माण' ही करणीय कार्य था। पर वे जन्म से ही एक प्रेमिक थे और उनकी मातृभूमि ही उनके हृदय की रानी थी। उनका हृदय भारत से सम्बन्धित किसी भी बात के लिए उस संवेदनशील घण्टे की तरह था, जो हर आवाज से कम्पित हो थरथरा उठता है। ऐसी कोई भी सुबक उसके तहों की सीमा में नहीं थी, जो

उनमें सहानुभूतिपूर्ण झाईं उत्पन्न न कर सकी हो। ऐसा कोई भयपूर्ण चीत्कार नहीं था, दुर्बलता की ऐसी कोई थरथरी नहीं थी, वेदना से उत्पन्न कोई आह नहीं थी, जिसे उन्होंने नहीं जाना और समझा हो। वे उसके दोषों के प्रति निर्मम थे, उसके सांसारिक बुद्धि के अभाव के प्रति निष्ठुर थे, पर यह केवल इसलिए कि वे इन दोषों को अपना ही समझते थे। और इसके विपरीत, ऐसा कोई भी नहीं था, जो उसकी महानता के स्वप्न में इतना खोया हुआ हो।" ('द मास्टर ऐज आई सा हिम', पृष्ट ४९-५०)

लोगों का ऐक्य

आज जब कि देश विदेशी सत्ता से मुक्तिदिवस मना रहा है, तो यह अच्छा होगा कि हम स्वामी विवेकानन्द का तथा देश के भविष्य के सम्बन्ध में उनकी धारणा का स्मरण करें। वे भारतवासियों की एकता के प्रति विश्वासी थे। उनका विश्वास था कि हमारी संस्कृति एक खूबसूरत पच्चीकारी के समान है, जिसमें हिन्दू, मुसलिम और अन्य संस्कृतियों का सुन्दर मेल है। उनका यह भी विश्वास था कि हिन्दू और मुसलमान को एक दूसरे से कुछ सीखना है, जिससे वे केवल अधिक अच्छे हिन्दू या अधिक अच्छे मुसलमान ही नहीं बनेंगे, बल्कि अधिक अच्छे मनुष्य बनेंगे, जोकि अधिक महत्त्वपूर्ण है। उनका धर्म था 'मनुष्य-निर्माण', इसलिए उन्होंने अपने देशवासियों से पहल की कि वे अपने संकीर्ण प्रेम और संकीर्ण घृणा का त्याग करें और उस समग्रता का विकास करें, जो चरित्र की पूर्णता है। उसी साँस में उन्होंने हिन्दुओं का आव्हान किया कि वे जाति और सम्प्रदाय की तंग निष्ठाओं का त्याग करें

और मनुष्य में जो दिव्यता निहित है, उसकी पूर्णता और समग्रता का विकास करें। उनकी धारणा थी कि लोकतंत्र का आधुनिक सिद्धान्त और व्यवहार मनुष्य-निर्माण के इस धर्म के लिए प्रभावी रूप से सहायक हो सकता है, क्योंकि वह स्वातंत्र्य, समानता और व्यक्तित्व की पावनता में विश्वास करता है। इसीलिए उन्होंने लोकतंत्र की भावना का पोषण किया।

लोकतंत्र की शक्ति नागरिक में निहित है। भारत का लोकतंत्र यह चाहता है कि हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, सिख, पारसी और अन्य लोग सही मायने में नागरिक बन जायँ तथा ऐसे कुछ आधारभूत मूल्यों के प्रति अपनी निष्ठा रखें, जो सार्वभौम और मानवीय हों। यह महान् प्रक्रिया विश्व के महान् धर्मों की प्रेरणाओं से पर्याप्त पोषण प्राप्त करेगी। वास्तव में, उस मार्गदर्शन और प्रेरणा के अभाव में, जिसे केवल धर्म ही दे सकता है, राजनैतिक, यहाँ तक कि आर्थिक लोकतंत्र भी बहुत दूर नहीं जा सकता; यही क्यों, वह गलत दिशा में भी जा सकता है। पर उस प्रेरणा को धर्म के मतवादों और रूढ़ियों में नहीं खोजना है, अपितु उसे उनके तात्त्विक सत्यों के भीतर से प्राप्त करना है। लोकतंत्र को नैतिक और आध्यात्मिक स्तरों तक उठाने का जो कार्य है, वह स्वतंत्र भारत के कन्धों पर निक्षिप्त है।

मूलभूत प्रेरणा

ऊपर की बातें कुछ अनोखी-सी लग सकती हैं और आज के भारत के सन्दर्भ में कुछ साहसिक भी। हमारी स्वतंत्रता हमारे पास पर्याप्त दुःख लेकर आयी है; आज जो आवाज स्वतंत्रता की उद्घोषणा करेगी, वह हमारे

दो राजनैतिक टुकड़ों में विभाजन की भी घोषणा करेगी। विभाजन तो वैसे भी दुःखदायी होता है, हम उसे यह मानकर और अधिक दुःखदायी नहीं बनाएँगे कि वह राजनैतिक और प्रशासनिक से अधिक और कुछ है। ऊपर-ऊपर से यह सांस्कृतिक और धार्मिक आधारों पर हुआ विभाजन दिखायी देता है। पर यदि हम इसे निकट से देखें, तो पता चलेगा कि यह राजनैतिक कारणों पर आधारित मात्र एक राजनैतिक विभाजन है, पर उसने संस्कृति और धर्म के बिल्ले लगा लिये हैं। इस विभाजन ने अवश्य ही धार्मिक और साम्प्रदायिक उन्मत्तता को जन्म दिया है; इसने अपने पीछे धन-जन की महती बरबादी छोड़ी है। पर यह सब यह प्रमाणित नहीं करता कि इस्लामी संस्कृति और धर्म को हिन्दू धर्म और संस्कृति की छूत से बचाने के लिए एक अलग स्वतंत्र देश चाहिए; वह इतना ही प्रमाणित करता है कि मुस्लिम बौद्धिक वर्ग व्यक्तित्व को अभिव्यक्त करने के लिए एक अलग देश चाहिये। जब विभाजन इस इच्छा की पूर्ति कर देगा, तो वह एक मूलभूत प्रेरणा के अभाव में अपना ही खण्डन करेगा। जनता तो एक ही है, भले ही वह एक स्वतंत्र देश में हो या दो में। फलस्वरूप, भारत और पाकिस्तान राष्ट्रों के पीछे एक बृहत्तर भारत बना रहेगा। यह बृहत्तर भारत दोनों देशों की संरचना और क्रिया-कलाप पर अवश्य ही अपना प्रभाव डालेगा। भारतीय जनसंख्या की सामाजिक बनावट अपने सामाजिक विधान और राजनैतिक शासन पर अवश्य ही अपने प्रभाव का विस्तार करेगी। इसलिए जो भी मूलभूत प्रेरणा है, वह एकत्व की ही ओर है; सामाजिक शक्तियाँ केवल इसी दिशा में

जा सकती हैं; विभाजन के बावजूद, दोनों देशों में अल्पसंख्यकों की जो समस्या है, वह एक ऐसा सशक्त तथ्य है, जो अन्ततोगत्वा दोनों देशों को एक में जोड़ने का काम करेगा, भले ही आज ऊपर से बातें विपरीत दिखायी देती हैं। और यह एकता उसकी अपेक्षा कुछ ऊँचे और अधिक टिकनेवाले स्तर पर होगी, जो राजनैतिक प्रयोजनों और पैंतरेबाजी से विगत कुछ दशाब्दियों में सन्धियों और सौदों के माध्यम से होती रही है। राजनीतिक दबाव ने हमें विभाजित किया है, पर सामाजिकता का दबाव हमें एक करेगा। सामाजिक और आर्थिक शक्तियों से शक्तिमान् हो संस्कृति इस प्रक्रिया को गति प्रदान करेगी, साथ ही विश्व-परिस्थितियों की वास्तविकताएँ भी इस कार्य में सहयोग करेंगी। यह प्रक्रिया वैसे तो समाज में हरदम चलती रहती है और सतत अनेकता में एकता का सृजन करती रहती है, पर भारत में एक बात यह हो गयी कि इस देश को एक अचिन्तनीय तीसरे कारण का सामना करना पड़ा और वह था एक विदेशी सत्ता का आधिपत्य, जो अपने संरक्षण और वर्धन के लिए स्वास्थ्य-कर राष्ट्रवादी शक्तियों को सतत कुचलती रही। अब इस तीसरे कारण के दूर हो जाने से सामाजिक शक्तियों के प्रभावी खेल के लिए मैदान साफ हो गया है। यह विश्वास उन लोगों को टूटने से बचाकर रखे हुए है, जो विभाजन की टीस का अनुभव तो करते हैं, पर उससे मोहित या भ्रमित नहीं हुए हैं। ऐसे लोगों की संख्या अभी भी अधिक है, इसके अन्तर्गत मुस्लिम और हिन्दू दोनों कौमों के प्रभावी राजनैतिक दल हैं, अराजनैतिक समूह तथा व्यक्ति हैं। जब वर्तमान अवस्था की

असामान्यताएँ दूर हो जाएँगी, जब तूफानी उन्माद और अन्धा बना देनेवाली घृणा का उपशम होगा, और भारत का आकाश खुलेगा, तब देश उपर्युक्त विश्वास और दृष्टि की सार्थकता और प्रयोजनीयता को पहचानेगा। तब कुछ स्थिर मतिमान लोगों का विश्वास बहुतों के लिए उत्साह का उत्स बन जायगा और जनादेश से क्रमशः दोनों कटे हुए टुकड़े फिर से जुड़कर मिल जाएँगे।

आज देश के समक्ष यही कार्य है कि चुपचाप, दृढ़ कदमों से इस गौरवपूर्ण लक्ष्य को प्राप्त करने की चेष्टा करना। हमें अनुभव करना है कि राजनीति सामाजिक शक्तियों का खिलौना है। राजनीति की अपेक्षा समाज-शास्त्र अधिक बुनियादी है। सामाजिक शक्तियों के इस स्वस्थ विनियोग में, जिससे कि वे सामाजिक एकता का निर्माण कर सकें, देश को स्वामी विवेकानन्द के व्यक्तित्व और सन्देश से प्रेरणा और मार्गदर्शन प्राप्त होगा।

मुसलमानों और अनुसूचित जातियों का आर्थिक और सांस्कृतिक उन्नयन देश की सामाजिक शक्तियों के बीच सन्तुलन लाने का कार्य करेगा। हिन्दू समाज पर लोकतंत्र का प्रभाव उसमें व्याप्त विषमताओं को दूर करने का प्रयास करेगा और उसे समता के स्तर पर उठा लाने में सहायक होगा। सांस्कृतिक और आर्थिक उन्नयन से औसत मुसलमान साम्प्रदायिक और धर्मान्ध दुष्प्रचार का कम शिकार होगा तथा वह अपने धर्म के उन उपदेशों का कायल होगा, जो सार्वभौम और मानवीय हैं। आने-वाले कल के भारतीय मुसलमानों के समक्ष जो कर्तव्य अपेक्षारत है, वह है सहिष्णु इस्लामियत की साधना और उसका प्रचार। हाल ही में उसकी जो विभाजन-

कारी शक्तियाँ प्रकट हुई हैं, उसमें जो नकारात्मक और वर्जनात्मक प्रवृत्तियाँ देखी गयी हैं, उन्हें निकालकर उनके स्थान पर उसकी एक करनेवाली उदात्त प्रवृत्तियों और कार्यक्रमों की स्थापना करनी होगी। संक्षेप में, इसलामी लोकतंत्र को इनसानी लोकतंत्र में विकसित होना होगा। ऐसे लोकतंत्र का हिन्दू समाज पर प्रभाव उस समाज और विश्व के लिए हितकारी होगा। विवेकानन्द का मत था कि हिन्दू धर्म का सौन्दर्य उसकी सामाजिक विषमताओं के द्वारा रौंद डाला गया है। व्यथा से वे चीख उठे थे—

"पृथ्वी पर ऐसा कोई धर्म नहीं है, जो हिन्दू धर्म के समान इतने उच्चस्वर से मानवता के गौरव का उपदेश करता हो, और पृथ्वी पर ऐसा कोई धर्म नहीं है, जो हिन्दू के समान गरीबों और नीच जातिवालों का गला ऐसी क्रूरता से घोंटता हो। प्रभु ने मुझे दिखा दिया है कि इसमें धर्म का कोई दोष नहीं है, वरन् दोष उनका है जो ढोंगी और दम्भी हैं, जो 'पारमार्थिक' और 'व्यावहारिक' सिद्धान्तों के रूप में अनेक प्रकार के अत्याचार के अस्त्रों का निर्माण करते हैं।" पुनः "दोष धर्म का नहीं है। इसके विपरीत तुम्हारा धर्म तो तुम्हें यही सिखाता है कि संसार भर के सभी प्राणी तुम्हारी आत्मा के विविध रूप हैं। समाज की इस हीनावस्था का कारण है, इस तत्त्व को व्यावहारिक आचरण में लाने का अभाव, सहानुभूति का अभाव—हृदय का अभाव।" (विवेकानन्द साहित्य, प्रथम खण्ड, पृ० ४०३-४, ४०२-३)

यदि इसलाम भारत में मित्र के रूप में और शान्ति लेकर आया होता, तो भारत का इतिहास तथा भारतीय

मुसलिम एवं हिन्दू समाज का स्वभाव ये सब भिन्न होते। तब उसने हिन्दू धर्म के सामाजिक सौध के शुद्धीकरण के लिए अपने सामाजिक सन्देश का योगदान किया होता, और हिन्दू धर्म ने भी अपने इस सहयोगी धर्म को अपना सहिष्णुता का दर्शन देकर उससे सहर्ष सामाजिक समत्त्व का पाठ लिया होता। पर वस्तुस्थिति भिन्न थी। भारत में इसलाम उन आक्रान्ताओं के द्वारा आया, जो इसलाम के अनुयायी होने का दावा तो करते थे, पर वस्तुतः जो व्यवहार में अपनी मध्य एशियाई बर्बरता प्रदर्शित करते थे, जिन्होंने भारत को रौंद डाला तथा हिन्दू धर्म का सत्यानाश किया। फल यह हुआ कि उन लोगों ने इसलाम को हिन्दुओं की आँखों की किरकिरी बना दी। यह धार्मिक और सांस्कृतिक सम्पर्कों के इतिहास में उन दुःखद अध्यायों में से एक था, जिन्होंने बहुत कड़वे फल प्रदान किये, पर जो, एक दूसरे रूप में, मानवजाति के धर्म और संस्कृति के लिए महान् परिणाम देनेवाले कारण बन सकते थे। तथापि सामाजिक शक्तियाँ मानवी उन्मादों और आवेगों को अभिभूत कर लेती हैं; क्योंकि ज्योंही एक बार इसलाम यहाँ की जमीन में प्रतिष्ठित हो गया, त्योंही मेल और संश्लेषण का कार्य प्रारम्भ हो गया। उत्तर भारत के मध्ययुगीन महान् सन्तों के जीवन और कार्यों ने हमारे इतिहास में एक सुनहला अध्याय जोड़ा है। मोटे तौर पर, उनके कार्यों में हिन्दू धर्म और इसलाम दोनों की छाप दिखायी दती है। अपने विचार और धर्म के क्षेत्र में उन्होंने हिन्दू धर्म से प्रेरणा ली और सामाजिक जीवन के क्षेत्र में इसलाम से। इतिहास के सामान्य चौखटे में कबीर, नानक, दादू और सूरदास का

कार्य क्षणिक और आधारहीन मालूम पड़ सकता है, पर उनमें इस युग के हम लोगों के लिए एक नैतिकता और प्रेरणा निहित है। यदि प्रतिकूल परिस्थितियों में इने-गिने व्यक्ति इस प्रकार की महान् गरिमामय उपलब्धियाँ हासिल कर सकते थे, तो फिर आध्यात्मिक स्थिरता और सामाजिक ऐक्य की दिशा में तथा उस लक्ष्य की सिद्धि में, जिसे विवेकानन्द 'मनुष्य-निर्माण' कहा करते थे, और भी महत्तर उपलब्धियाँ क्यों न हासिल की जा सकेंगी, यदि दोनों धर्म समझ-बूझकर, योजनाबद्ध रूप से अपनी शक्तियों को रचनात्मक और सर्जनशील तरीके से नियोजित करें ? ऐसे प्रयत्न को आधुनिक लोकतंत्र के सिद्धान्त और व्यवहार का बल प्राप्त होगा तथा विश्व की शक्तियों के संघट्टन से सहायता मिलेगी। इसकी गरिमामण्डित परिणति होगी एक ऐसे भारतीय राज्यतंत्र के विकास में, जो आध्यात्मिक पृष्ठभूमि पर आधारित होगा और जिसमें मानवता के कल्याण के लिए एक नैतिक उन्माद भरा होगा। क्या यही सभी धर्मों का उद्देश्य और लक्ष्य नहीं है ? क्या इससे विश्व के महान् धर्मों के पैगम्बरों और प्रवर्तकों का हृदय आनन्द से उल्लसित न होगा ? क्या यही आधुनिक विश्व-शक्तियों की स्वाभाविक परिणति नहीं है, जब वे मानवी लक्ष्यों की ओर नियोजित होती हैं ? क्या परिणति भारत को समृद्ध, शक्तिमान् और राष्ट्रों का नैतिक नेता नहीं बनाएगी ? क्या भारतीय इस्लाम और भारतीय ईसाइयत हिन्दू धर्म के समान ऐसी विशिष्ट विश्व-शक्तियों के रूप में नहीं उभर सकते, जिनमें अपने व्यक्तिगत वैशिष्ट्य बने हुए हों तथा विश्व के अन्य लोगों के लिए, जिनका अपना एक

सन्देश हो ? भारतीय भूमि धर्म के लिए उर्वरा है। भारतीय, फिर वह हिन्दु हो या ईसाई या मुसलमान, गहरा धार्मिक होता है। संकीर्ण राजनैतिक आवेगों से युक्त हो इस धार्मिक भावना ने अपने सबसे बर्बर पहलुओं को उजागर किया है। आध्यात्मिकता और मानव-सेवा की निष्ठा से युक्त हो उसने सबसे उदात्त पहलुओं को भी प्रदर्शित किया है। अब यह हिन्दुओं और मुसलमानों का कर्तव्य है कि वे अपने धर्म को उदात्त भावनाओं की अभिव्यक्ति करते देखें। एक सामान्य मुस्लिम को यह जान लेना चाहिए कि सैनिक विजेता और धर्मान्ध व्यक्ति पथभ्रष्ट और अस्वाभाविक प्रकृति के लोग हैं, जो अपनी रक्तपिपासा और अहंकार को छिपाने के लिए इस्लाम का नाम लेते हैं। वे अधिक से अधिक सैनिक वीर हो सकते हैं, धर्म-वीर नहीं। उसे अपने धर्म के पीरों और फकीरों का आदर करना अधिक सीखना चाहिए, जिन्होंने मानव को उत्साह दिया है, आशा प्रदान की है। इससे भारतीय मुसलमान को दूसरे धर्मों के आचार्यों और सन्तों के प्रति समादर का भाव पोषित करने में सहायता मिलेगी। पैगम्बर आये थे मनुष्य को सावधान करने के लिए, वे आये थे जोड़ने के लिए। वे, अपने ही शब्दों में, मानवता के लिए आशीर्वाद बनकर आये थे, शाप बनकर नहीं। एक मेमने-सी विनम्रता ले, पर साथ ही सिंह के समान बली और साहसी होकर, उन्होंने अपनी सारी शक्ति अपने लोगों के नैतिक और आध्यात्मिक उत्थान में लगा दी। उन्होंने अपनी प्रवृत्तियों और कार्य-कलापों में ऐसा प्रकर्ष

प्रदर्शित किया है, जो उनके अनुयायियों के लिए प्रेरणा का स्रोत बना हुआ है।

एक दूसरे के प्रति आदर-भाव एक दूसरे की अच्छी बातों को अपनाने की प्रेरणा देगा। हमने अनुकरण के इस महान् सामाजिक तथ्य को लम्बे अरसे से दबाकर रखा है। इससे हमारे धर्मों और हमारे व्यक्तित्व में विकृति आ गयी है। अब समय आ गया है कि हम सामाजिक विकास के इस बाध्यताकारी तथ्य को खुले रूप से अपना कार्य करने दें। हमारी भावी अग्रगति की यही दिशा है। यह एक सुखद शकुन है कि भारतीय ईसाई धर्म ने राजनैतिक बाध्यताओं से जिन पर उसका कोई नियंत्रण नहीं था, उत्पन्न अपने प्रलोभनों को दबाकर इस महान् सत्य को समझा है और ज्ञानपूर्वक इस लक्ष्य की प्राप्ति में प्रयत्नशील है। इससे भारतीय ईसाइयत के लिए एक महिमामण्डित भविष्य सुनिश्चित है। भारतीय इस्लाम कब अपने पास आएगा ? भारतीय मुसलमान कब इस महान् धर्म को अपनी प्रतिभा का दान करना सीखेंगे और ऐसे पीरों और सन्तों की जमात पैदा करेंगे, जो सबकी श्रद्धा अपनी ओर आकर्षित करेंगे? जीवन्त धर्म की कसौटी है ऐसे सन्तों की पैदाइश, जो ईश्वर के तथा हमारे भीतर के सर्वोच्च सत्य के साक्षी हैं। यदि कोई धर्म 'असली राजनीति' के अधिक निकट सम्पर्क में अधिक लम्बे समय तक रहे, तो उससे उसकी आत्मा विनष्ट भी हो सकती है। समाज अपने नेताओं से आज इस मार्गदर्शन की अपेक्षा रखता है। स्नायु अधिक समय तक घृणा और द्वेष का बोझ और तनाव नहीं सह सकते। स्वतंत्र भारत द्वेष को भुलाकर मैत्री की

पुकार करता है; वह सभी ओर प्यार की लहरें भेजने की माँग करता है।

स्वामी विवेकानन्द भारत की इस महिमामयी नियति पर विश्वास करते थे और उसकी उपलब्धि के लिए वे अनवरत कार्य करते रहे। इस कार्य को विरासत के तौर पर वे हमारे लिए छोड़ गये हैं। वे जानते थे कि भारत की धरती पर धर्मों के ऐसे सम्मिलन से कितने आशीर्वाद की वर्षा होगी! हिन्दू धर्म और इस्लाम के मिलन और परस्पर आदान-प्रदान पर उन्होंने अपने एक मुसलिम मित्र को जो पत्र लिखा है, उसे जवाहरलाल नेहरू 'एक असाधारण पत्र' की संज्ञा देते हैं ('द डिस्कवरी ऑफ इण्डिया', पृष्ठ ४०३, पाद टिप्पणी)। वह पत्र १० जून १८९८ का लिखा हुआ है। मैं यही उत्तम मानता हूँ कि उस पत्र को पूरा का पूरा यहाँ पर उद्धृत कर दूं—

"प्रिय मित्र,—आपका पत्र पढ़कर मैं मुग्ध हो गया और मुझे यह जानकर अति आनन्द हुआ कि भगवान् चुपचाप हमारी मातृभूमि के लिए अभूतपूर्व चीजों की तैयारी कर रहे हैं।

"चाहे हम उसे वेदान्त कहें या और किसी नाम से पुकारें, परन्तु सत्य तो यह है कि धर्म और विचार में अद्वैत ही अन्तिम शब्द है और केवल उसी के दृष्टिकोण से सब धर्मों और सम्प्रदायों को प्रेम से देखा जा सकता है। हमें विश्वास है कि भविष्य के प्रबुद्ध मानवी समाज का यही धर्म है। अन्य जातियों की अपेक्षा हिन्दुओं को यह श्रेय प्राप्त होगा कि उन्होंने इसकी सर्वप्रथम खोज की। इसका कारण यह है कि वे अरबी और हिब्रू दोनों

जातियों से अधिक प्राचीन हैं। परन्तु साथ ही व्यावहारिक अद्वैतवाद का, जो समस्त मनुष्य-जाति को अपनी ही आत्मा का स्वरूप समझता है, तथा उसी के अनुकूल आचरण करता है। विकास हिन्दुओं में सार्वभौमिक भाव से होना अभी भी शेष है।

"इसके विपरीत हमारा अनुभव यह है कि यदि किसी धर्म के अनुयायी व्यावहारिक जगत् के दैनिक कार्यों के क्षेत्र में, इस समानता को योग्य अंश में ला सके हैं, तो वे इस्लाम और केवल इस्लाम के अनुयायी हैं। यद्यपि सामान्यत: जिस सिद्धान्त के अनुसार ऐसे आचरण का अवलम्बन है, उसके गम्भीर अर्थ से वे अनभिज्ञ हैं, जिसे कि हिन्दू साधारणत: स्पष्ट रूप से समझते हैं।

"इसलिए हमें दृढ़ विश्वास है कि वेदान्त के सिद्धान्त कितने ही उदार और विलक्षण क्यों न हों, परन्तु व्यावहारिक इसलाम की सहायता के बिना, मनुष्य-जाति के महान् जनसमूह के लिए वे मूल्यहीन हैं। हम मनुष्य-जाति को उस स्थान पर पहुँचाना चाहते हैं, जहाँ न वेद है, न बाइबिल है, न कुरान; परन्तु वेद बाइबिल और कुरान के समन्वय से ही ऐसा हो सकता है। मनुष्य-जाति को यह शिक्षा देनी चाहिए कि सब धर्म उस धर्म के, उस एकमेवाद्वितीय के भिन्न भिन्न रूप हैं, इसलिए प्रत्येक व्यक्ति इन धर्मों में से अपना मनोनुकूल मार्ग चुन सकता है।

"हमारी मातृभूमि के लिए इन दोनों विशाल मतों का सामंजस्य। हिन्दुत्व और इस्लाम। वेदान्ती बुद्धि और इस्लामी शरीर—यही एक आशा है।

"मैं अपने मानस-चक्षु से भावी भारत की उस पूर्णावस्था को देखता हूँ, जिसका इस विप्लव और संघर्ष से तेजस्वी और अजेय रूप में वेदान्ती बुद्धि और इसलामी शरीर के साथ उत्थान होगा।

"सर्वदा मेरी यही प्रार्थना है कि प्रभु आपको मनुष्य-जाति की सहायता के लिए, विशेषतः हमारी अत्यन्त दरिद्र मातृभूमि के लिए, एक शक्ति सम्पन्न यंत्र बनावे। —भवदीय स्नेहबद्ध, विवेकानन्द।" (विवेकानन्द साहित्य, षष्ठ खण्ड पृ. ४०५-६)।

ऐसा भारत जो आध्यात्मिक दृष्टि से संहत है, जिसमें आर्थिक सम्पन्नता और सामाजिक स्थिरता है और जो नीतियुक्त उत्साह से भरा हुआ है, विश्व-घटनाओं में एक अतुलनीय शक्ति साबित होगा। अपने देश के भविष्य के सम्बन्ध में यही स्वामी विवेकानन्द का सपना था। संसार भारत से बहुत कुछ आशा करता है। सभ्यता की स्थिरता प्रबल विश्व-ताकतों को एक नैतिक और आध्यात्मिक दिशा देने पर निर्भर करेगी। संसार पुकार रहा है; क्या भारत नहीं सुनेगा और उत्तर नहीं देगा? विवेकानन्द विश्वास करते थे कि वह दे सकता है और देगा। स्वतंत्र भारत उस विश्वास और दृष्टि को ग्रहण करे और आगे बढ़ चले। उठो! जागो! और लक्ष्य की प्राप्ति तक रुको मत।

श्री चैतन्य महाप्रभु (८)

स्वामी सारदेशानन्द

(ब्रह्मलीन लेखक की रचनाओं में मूल बँगला में लिखा उनका 'श्रीश्रीचैतन्यदेव' ग्रन्थ श्री चैतन्य महाप्रभु की जीवनी पर एक प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है, जिसका हिन्दी अनुवाद धारावाहिक रूप से यहाँ प्रकाशित किया जा रहा है। अनुवादक, स्वामी विदेहात्मानन्द, रामकृष्ण मठ, नागपुर के अन्तेवासी हैं। –स०)

प्राचीनकाल में ऐसी प्रथा थी कि प्रव्रज्या लेने के बाद संन्यासीगण महाप्रस्थान के पथ पर हिमालय की ओर अग्रसर होते थे तथा इस संसार में फिर लौटते न थे। परवर्ती काल के आचार्यों ने इस प्रथा में परिवर्तन लाकर तीर्थों में रहकर 'आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च' का जीवन बिताने की प्रणाली शुरू की। उस पुरातन प्रथा का निदर्शन अब भी प्राचीन मठों एवं आश्रमों में देखने को मिल जाता है। संन्यास ग्रहण के पश्चात् नवीन संन्यासी महाप्रस्थान के निमित्त हिमालय की दिशा में थोड़ी दूर अग्रसर होते हैं; तब पुराने संन्यासी उन लोगों को 'जगद्धिताय' लौट आने का आदेश देते हैं।

अगले दिन सबेरा होते ही नवीन परिव्राजक (निमाई) गुरुदेव का आशीर्वाद लेकर पथ पर निकल पड़े। चन्द्रशेखर आदि से विदा माँगकर संन्यासी ने उनसे अनुरोध किया, "आप लोग नवद्वीप लौट कर वहाँ के भक्तों को मेरा 'नमो नारायण'[1]

---

१. "दण्डधारणमात्रेण नरो नारायणो भवेत्"—इस शास्त्र-वाक्य के अनुसार संन्यासी को साक्षात् नारायण समझकर लोग उन्हें 'ॐ नमो नारायणाय' कहकर अभिवादन करते हैं; संन्यासीगण भी 'ॐ नमो नारायणाय' कहकर प्रति-अभिवादन किया करते हैं।

कह देंगे।[२] वे संन्यासीवृन्द की प्रिय साधनाभूमि उत्तराखण्ड की ओर अग्रसर हुए। उनके मन में इच्छा थी कि पथ में काशी, प्रयाग, वृन्दावन आदि सुप्रसिद्ध तीर्थों का भी दर्शन कर लेंगे। विशेपकर श्रीकृष्ण की लीलाभूमि व्रजमण्डल का दर्शन करने का उनके अन्तर में प्रबल आग्रह था। श्रीमद्भागवत के एक श्लोक में कथित है, 'संसाराश्रम को त्यागकर संन्यासग्रहण के द्वारा भगवान् के पादपद्मों में आश्रय लेने को ही महात्माओं ने भवसागर से पार होने का प्राचीन उपाय माना है'[३]। चैतन्यदेव इसी सुमधुर श्लोक की आवृत्ति करते हुए पथ पर चले जा रहे थे। वे सभी को छोड़ एकाकी निकल पड़े थे तथापि भक्तसह नित्यानन्द उन्हें छोड़ नहीं सके और उनका अनुसरण करने लगे।

---

२. मुरारी गुप्त के चैतन्य चरित में है—

"नमो नारायणायेति सद्वाक्यं भक्तसन्निधौ,
वक्तव्यं भवता येन ममानन्दोभविष्यति।"

एक अन्य मत के अनुसार संन्यासी के लिये गृहस्थों के प्रति 'नमो नारायणाय' कहने की विधि नहीं है।

यथा—प्रणामं न यतिर्ब्रुयात् आशिषं व्यासशासनात्।
नारायणेति च ब्रुयात् प्रणतायुर्विवृद्धये॥
—यतिधर्म संग्रह

तथापि लोकोत्तर पुरुषगण इस सामान्य विधि का लंघन भी करें, तो इसमें दोप नहीं। यथा—

'तेजीयसां न दोषाय।'

३. एतां आस्थाय परमात्मनिष्ठा-मध्यासितां पूर्वतमैर्महर्षिभिः।
अहं तरिष्यामि दुरन्तपारं तमो मकुन्दाङ्घ्रिनिषेवयैव॥
श्रीमद्भागवत (गीता प्रेस सं.) 11/23/58

संन्यास के परवर्ती दिन चैतन्यदेव पथ पर चले जा रहे थे, परन्तु बाह्यजगत की ओर उनकी दृष्टि बिल्कुल भी न थी। कभी वे अपना बाह्यज्ञान पूर्णत: खोकर चित्रलिखे से जड़वत् हो जाते, और कभी भावावेश में 'कहाँ हो कृष्ण ! कहाँ हो वृन्दावन !' कहकर दौड़ने लगते। किधर जा रहा हूँ, किधर जाना होगा, किधर से रास्ता है—इन सब बातों का उन्हें जरा सा भी बोध नहीं रहता था। क्या कर रहा हूँ और क्या करना चाहिए—इसकी भी उन्हें चिन्ता नहीं रह जाती थी। वे तो भगवद्-भाव में ही विभोर रहते, प्रेम में विह्वल रहते। इसी प्रकार पूरा दिन और रात बीत जाता। आहार और निद्रा का भी उन्हें ख्याल नहीं रहता। यह सब देखकर नित्यानन्द तथा भक्तगण बड़े चिन्तित हुए। संन्यास के नियमानुसार ही पहला दिन तो अनिद्रा और उपवास में बीता, फिर दूसरा दिन भावावेश में कट गया। पूरा दिन व्यतीत हो जाने पर संध्या को चैतन्यदेव ने एक वटवृक्ष के नीचे विश्राम किया। कीर्तन-भजन तथा ध्यान-धारणा में वह रात भी बीत गयी। चैतन्यदेव ने उस रात जिस स्थान पर विश्राम किया था, अब भी वह 'विश्रामतला' के नाम से जाना जाता है।

"आकाश अनन्त चँदोवा, शय्या धरती तृण-शोभित
रहने के लिए तुम्हारे यह विश्वगेह है निर्मित;
जैसा भोजन मिल जाये, सन्तोष उसी पर करना
सुस्वादु स्वाद-विरहित में कुछ भी मत भेद समझना।
—स्वामी विवेकानन्द (संन्यासी का गीत)

संन्यासी का यही सनातन मार्ग है। आदर्श संन्यासी चैतन्यदेव निशावसान होते ही भगवान् का नाम लेते हुए

पुनः अपने पथ पर निकल पड़े। कटवा का उत्तर-पश्चिमी अंचल उन दिनों जंगलाकीर्ण था, जनबस्ती विरल थी। अनिद्रा और अनाहार के फलस्वरूप उनकी देह भी अत्यन्त दुर्बल हो चुकी थी। अतः इस दुर्गम पथ पर अधिक दूर चल पाना कठिन था, फिर बीच-बीच में वे अपना रास्ता तथा गन्तव्य भूल जाते थे, तो कभी उल्टी दिशा में ही चलने लगते थे। भक्तों के साथ नित्यानन्द भी अपनी आहार-निद्रा तथा दुःख कष्ट भूलकर छाया के समान उनके साथ लगे रहते थे। आज उनके देह की क्षीणता की ओर दृष्टि जाने पर नित्यानन्द के मन में बड़ी चिन्ता हुई। इसी प्रकार यदि चलता रहा तो उनकी देहरक्षा कैसे होगी ? तब उन्होंने मन ही मन एक उपाय सोचकर, साथ के भक्तों के साथ परामर्श करने के पश्चात् एक व्यक्ति को शान्तिपुर में अद्वैताचार्य के पास भेजा। फिर अन्य संगियों को पीछे ही चलते रहने का निर्देश देकर स्वयं अग्रसर होकर चैतन्यदेव के समीप गये और अपनी वृन्दावन-दर्शन की इच्छा व्यक्त की। नित्यानन्द को पाकर और उनका अभिप्राय जानकर उन्हें अतीव आनन्द हुआ और दोनों ने एक साथ जाने का सङ्कल्प करके चलना प्रारम्भ कर दिया। नित्यानन्द पथ दिखाते हुए चैतन्यदेव को भुलावे में डालकर शान्तिपुर की ओर अग्रसर हुए। उन्हें देश, ग्राम, पथ आदि की ओर बिल्कुल भी ध्यान न था। वृन्दावनचन्द्र और उनके पुण्य-लीलाधाम के दर्शन की आकांक्षा से उनका चित्त प्रफुल्लित था; वे भाव में विभोर थे। बीच बीच में गहन भावावेश हो जाने पर उनके बाह्य जगत् का बोध लुप्त हो जाता था। फिर कभी कभी वे अधीर होकर

नित्यानन्द से पूछने लगते, "प्रभुपाद, वृन्दावन अब कितनी दूर रह गया है ?" इसी प्रकार अग्रसर होते जब दोनों गंगा के समीप पहुँचे, तो निताई ने गंगा का तट दिखाते हुए कहा, "अब ज्यादा दूर नहीं है।" वह देखिए यमुना का तीर दीख रहा है।" यमुना का नाम सुनते ही चैतन्यदेव के भावसमुद्र में मानो तूफान आ गया। शीघ्रतापूर्वक गंगा के किनारे जाकर उन्होंने भावविह्वल चित्त से यमुना-माहात्म्य का पाठ किया और आनन्दपूर्वक अवगाहन कर लिया।

स्नान के पश्चात् चारों ओर दृष्टिपात करने पर चैतन्यदेव को सब कुछ मानो पूर्व परिचित सा प्रतीत हुआ। उस पार पूर्व दिशा में उन्होंने बड़े ध्यानपूर्वक देखा कि यह तो शान्तिपुर का चिरपरिचित गंगाघाट जैसा लग रहा है। इसी बीच नित्यानन्द द्वारा प्रेषित संवाद पाकर अद्वैताचार्य नाव लेकर आ पहुँचे। चैतन्यदेव ने अत्यन्त विस्मित होकर नित्यानन्द के मुख की ओर देखा और उन्होंने तब हँसते हँसते सारा रहस्य बताकर अपना अपराध स्वीकार कर लिया। सारी घटना सुनने के बाद आचार्य के अन्तर में नित्यानन्द के प्रति अतिशय भक्ति का उदय हुआ, वे बारम्बार उनकी चरण वन्दना करते हुए उनकी अजस्र प्रशंसा करने लगे। आचार्य ने हाथ जोड़कर नित्यानन्द की स्तुति करते हुए कहा, "अवधूतश्रेष्ठ, आज आपके कारण ही प्रभु की देह तथा उनके श्रीचरणाश्रित भक्तों के जीवन की रक्षा हो सकी है।" चैतन्यदेव ने जब दुःख व्यक्त करते हुए कहा कि इस प्रकार गंगा को यमुना कहकर उन्हें ठगना उचित नहीं हुआ, तो आचार्य हँसते हुए पुनः बोले, "इस पर

आपको खेद करने की जरूरत नहीं, क्योंकि यहाँ गंगा और यमुना मिलकर एक साथ प्रवाहित हो रही हैं, लोग कहते हैं कि इसके पश्चिमी किनारे से होकर यमुना की धारा ही प्रवाहित हो रही है।"

अद्वैताचार्य तथा भक्तगण शोक से बड़े दुःखी थे और अब चैतन्यदेव को पाकर उनके आनन्द की सीमा न रही। नित्यानन्द के निर्देशानुसार आचार्य गेरूए रंग से रंगा नया कौपीन तथा बहिर्वास ले आए थे, क्योंकि स्नान के बाद पहनने को दूसरा वस्त्र चैतन्यदेव के पास नहीं था। आचार्य द्वारा हाथ जोड़कर वह गैरिक वस्त्र निवेदित किए जाने पर चैतन्यदेव ने उसे स्वीकार कर लिया। उस नवीन वस्त्र से आवृत्त नवीन संन्यासी की ओर सबने देखा—

"गौर देह कान्ति सूर्य सम उज्ज्वल।
अरुण वस्त्र कान्ति ता पर करे झलमल।"

अपने चरणद्वय में आचार्य प्रदत्त सुन्दर काष्ठ पादुका धारण कर जब मुण्डितमस्तक, दण्ड-कमण्डलुधारी, अति-सौम्य प्रशान्तमूर्ति यतिराज खड़े हुए; तो सभी ने पुलकित अन्तर से अतिशय श्रद्धा-भक्ति के सहित 'ॐ नमो नारायणाय' कहकर उनका अभिवादन करते हुए उनके शुभाशीर्वाद की याचना की। संन्यासीप्रवर ने भी 'ॐ नमो नारायणाय' कहकर अभिवादन का उत्तर दिया।

तदनन्तर आचार्य ने अत्यन्त विनयपूर्वक हाथ जोड़-कर उनसे अपने घर भिक्षा पाने की प्रार्थना की और मृदु हास्य के साथ चैतन्यदेव ने अपनी सहमति प्रदान की। नित्यानन्द और भक्तों के साथ वे नाव पर गंगा

पार होकर शान्तिपुर के घाट पर उतरे और शनैः शनैः आचार्य के घर की ओर चल पड़े। उनके आगमन की वार्ता क्षण भर में ही अग्नि के समान चारों ओर फैल गयी और लोग नवीन संन्यासी का दर्शन करने के लिए एकत्रित होने लगे। जब चैतन्यदेव भिक्षा पाने के लिए 'ॐ नमो नारायणाय' कहकर आचार्य के द्वार पर दण्डाय-मान हुए तो उनका गृह आनन्द-कलरव से मुखरित हो उठा। आचार्य उनका स्वागत और पादवन्दना करने के पश्चात् संगियों के साथ उन्हें सादर घर के भीतर ले गए तथा उन्हें उपयुक्त आसन प्रदान किया। आचार्य की सहधर्मिणी सीतादेवी पहले तो अपने दुलारे निमाई को मुण्डित मस्तक संन्यासी के वेष में देखना होगा सोचकर शोकमग्न थीं, परन्तु निमाई की वह चित्तप्रशान्तिमय भुवनमोहन मूर्ति देखकर उनके अन्तर में आनन्द का ही संचार हुआ और हृदय श्रद्धाभक्ति से परिपूर्ण हो उठा। सर्वप्रथम उन्होंने संन्यासी का दर्शन करके दूर से ही उन्हें बारम्बार प्रणाम किया और फिर नवीन संन्यासी को प्रथम भिक्षा देने के उल्लास में अधीर होकर तरह तरह के उत्तम पकवान बनाने की तैयारी में लग गयीं। पहले के दिनों में हिन्दू नारियाँ साक्षात् नारायण-विग्रह संन्यासी को भिक्षा देने में अपने मातृकुल में जन्म ग्रहण की चरम सार्थकता मानती थीं। अब भी जहाँ वैदिक-भाव प्रबल है, उस स्थान के पुराने लोगों के बीच वह आकांक्षा थोड़ी-बहुत देखने को मिल जाती है। तिस पर अपने परम दुलारे निमाई को नवीन संन्यासी के रूप में भिक्षा के निमित्त अपने ही द्वार पर उपस्थित पाकर सीतादेवी का समस्त दुःख सुख में परिवर्तित हो गया।

भोजन तैयार हो जाने पर आचार्य ने तीन भोग सजवाये। सुन्दर धातु के पात्र में गृहदेवता के लिए भोग सजाया गया। संन्यासी के लिए धातुपात्र का उपयोग निषिद्ध है, अतः उनके लिए केले के पत्ते पर अन्न व व्यंजन तथा मिट्टी के सकोरों और कुल्हड़ों में दही, खीर, पायस और जल इत्यादि सजाकर अन्य दो भोग प्रस्तुत किये गये।

तदुपरान्त आचार्य ने गृहदेवता को आरती एवं भोग निवेदित करके उन्हें शयन करा दिया। नित्यानन्द के साथ चैतन्यदेव ने भी आरती देखी। आचार्य की अत्यन्त भक्तिपूर्ण सेवा-पूजादि देखकर उन लोगों को बड़ा ही आनन्द हुआ। संन्यासी के लिए नारी का दर्शन निषिद्ध है, अतः सीतादेवी ने सब कुछ अत्यन्त भक्तिपूर्वक सजाकर रख दिया, परन्तु संन्यासियों को अपने हाथ से परोसने को न आयीं। इसलिए आचार्य स्वयं ही इस कार्य में अग्रसर हुए, विशेषकर अतिथि की सेवा करना गृहस्वामी का अपना ही तो कर्तव्य है। संन्यासी साक्षात् नारायण हैं, अतः उन्हें प्रसादी अन्न नहीं दिया जाता। इसी कारण आचार्य ने पहले से ही केले के पत्तों पर दो भोग अलग से सजवा लिये थे। अब आचार्य ने हाथ जोड़कर चैतन्यदेव और नित्यानन्द—संन्यासीद्वय से वे दोनों भोग ग्रहण करने का अनुरोध किया। तुलसीमंजरी से युक्त, अत्यन्त सुरुचि-पूर्ण सुसज्जित दोनों भोग तथा आचार्य की आन्तरिक सेवानिष्ठा एवं भगवद्भक्ति देखकर चैतन्यदेव का मन प्रफुल्ल हुआ और वे आचार्य की भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे। उन्होंने उक्त भोग से थोड़ा सा अंश ही ग्रहण करने के अभिप्राय से उसमें से कुछ अंश निकाल

देने को कहा। इस पर आचार्य ने अत्यन्त विनयपूर्वक निवेदन किया कि ये भोग आप दोनों के लिए ही सजाये गये हैं और कृपा करके आपके ग्रहण करने पर मेरा जीवन सफल हो जायगा। इतने अधिक परिमाण में अन्न तथा विविध व्यंजन देखकर चैतन्यदेव उसे ग्रहण करने में अपनी असमर्थता जताते हुए बोले, "संन्यासी के लिए इतनी चीजें ग्रहण करना उचित नहीं, अन्यथा वह इन्द्रिय-संयम कैसे कर सकेगा!" परन्तु आचार्य छोड़ने वाले न थे। उन्होंने हाथ जोड़कर अनुनय-विनय करते हुए कहा कि ये तो थोड़ी सी चीजें हैं, इन्हें खाने से कोई दोष न होगा। आचार्य का आग्रह, आकुलता, अनुरोध आदि टाल पाने में अपने को असमर्थ पाकर अन्त में वे नित्यानन्द के साथ भोजन को बैठे।

आचार्य और नित्यानन्द दोनों ही आज बड़े आनन्दित थे। चैतन्यदेव को अपने घर में पाकर आचार्य के प्राण अतीव उल्लसित हैं। नित्यानन्द भी उन्हें ठीक ढंग से स्नान आहार कराने में सफल होकर, विशेषकर उन्हें अपनी जगह में अपने लोगों के बीच में लाकर बड़ी शान्ति का अनुभव कर रहे हैं। दोनों के बीच सर्वदा हास-परिहास चलता रहता है। आहार हो जाने के बाद नित्यानन्द ने उत्साहपूर्वक आचार्य से कहा, "निमन्त्रण देकर बुला लाये, पर भरपेट खाने को नहीं दिया, जबकि हमलोग तीन दिन से उपवासी हैं।" आचार्य ने विनयपूर्वक उत्तर दिया, "मैं ठहरा गरीब ब्राह्मण, तुम लोग का इतना ढेर का भोजन करने से, मैं इतना सब आहार कहाँ से लाऊँगा?" नित्यानन्द ने क्रोध का अभिनय करते हुए पत्ते में से एक मुट्ठी भात लेकर आचार्य के शरीर पर

फेंकते हुए कहा, "यह लो अपना खाना, मुझे अब खाने की इच्छा नहीं है।" आचार्य ने मन ही मन प्रसाद का स्पर्श पाकर स्वयं को धन्य माना, परन्तु बाहर से नाराजगी भाव दिखाते हुए बोले, "जातिकुलहीन भ्रष्टाचारी अवधूत होकर भी तुम्हें ब्राह्मण का अपमान करते हुए भय नहीं लगता ! मैं इसका उपचार करूँगा।" इसी प्रकार व्यंग विनोद के साथ परमानन्दपूर्वक भोजन समाप्त हुआ। आचमन कराने के बाद आचार्य ने संन्यासीद्वय की मुखशुद्धि के लिए तुलसीमंजरी, लवंग, इलायची, कबाबचीनी आदि ला दिया। संन्यासी के लिए निषिद्ध जानकर उन्होंने पान नहीं दिया।

अद्वैताचार्य के भवन में ही चैतन्यदेव का आसन जम गया। आचार्य, नित्यानन्द तथा अन्यान्य भक्तों के हार्दिक आग्रह पर उन्होंने कुछ दिन वहाँ विश्राम करना स्वीकार कर लिया। भगवद् चर्चा तथा कीर्तन करते हुए पूरी रात परम आनन्द के साथ बीत गयी। अगले दिन प्रातःकाल ही नित्यानन्द उनकी अनुमति पाकर शचीदेवी को लाने पालकी लेकर नवद्वीप गए। एक ही पालकी भेजी गयी थी क्योंकि चैतन्यदेव की अनिच्छा के कारण विष्णुप्रिया के लिए पालकी व्यवस्था नहीं हुई।

निताई को देख और निमाई का संवाद पाकर वृद्धा की मृतदेह में मानो पुनर्जीवन लौट आया; शचीदेवी शान्तिपुर जाने को उत्सुक हो उठीं। तब विष्णुप्रिया भी लज्जा एवं संकोच में भरकर, शोक एवं चिन्ता से जर्जरित तथा अनाहार एवं अनिद्रा से अतिशय क्षीण हुए अपने सारे शरीर को वस्त्र से ढँक कर. एक बार

अपने पतिदेव के पादपद्मों के दर्शन की आशा में अपना आँचल थामकर, अतिशय दीनहीन के समान अपनी सास के समीप आकर खड़ी हो गयीं। यह दृश्य देखकर निताई का चित्त करुणा से अभिभूत हो उठा तथापि उन्होंने शचीदेवी को सूचित किया कि विष्णुप्रिया को वहाँ ले जाने में चैतन्यदेव की सहमति नहीं है। यह वाक्य सास और बहू दोनों के ही हृदय में तीर के समान चुभ गया। विष्णुप्रिया को छोड़कर शचीदेवी अकेली जाना नहीं चाहती थीं, परन्तु विष्णुप्रिया ने स्वयं ही पतिदेव के संन्यास धर्म की रक्षा हेतु जाना अस्वीकार कर दिया और तरह तरह से वृद्धा सास को समझा-बुझा कर पालकी में जाने को राजी कर लिया। शचीदेवी ने विष्णुप्रिया को बारम्बार कलेजे से लगाकर चूमा और अश्रुजल से भिगो दिया, फिर घर के विश्वस्त पुरातन भृत्य ईशान को उनकी रक्षा का भार सौंपकर रघुनाथ को प्रणाम करने के उपरान्त वे नित्यानन्द के संग शान्तिपुर के लिए रवाना हुईं।

शचीदेवी के शान्तिपुर पहुँचते ही चैतन्यदेव ने दौड़कर माँ के चरणों में दण्डवत् प्रणाम किया और शचीदेवी उन्हें गोद में उठाकर रोने लगीं। दोनों ही एक दूसरे को देख भावविह्वल हो उठे। फिर शचीदेवी उनके सिर पर केश न देख विकल हुईं, उनके अंग पर हाथ फेरते, मुख को चूमते वे उनका निरीक्षण करने लगीं, पर आँसुओं से नेत्र डबडबा जाने के कारण वे उन्हें देख भी नहीं पा रही थीं।

थोड़ी देर बाद आत्मसंवरण करके शचीदेवी रोते हुए कहने लगीं, 'बेटा निमाई! तू भी कहीं विश्वरूप के

समान ही निष्ठुरता न दिखाना। संन्यासी होने के बाद से उसने मुझे दर्शन नहीं दिया, तूने भी यदि वैसा किया तो फिर मैं जीवित नहीं बचूँगी।"

माँ की करुण वाणी सुनकर संन्यासी का मन अतिशय द्रवीभूत हो गया। प्रभु ने रोते हुए कहा, 'माँ! यह शरीर तो तेरा ही है, इसमें मेरा तो कुछ भी नहीं है। तुझसे इसका जन्म हुआ है और तेरे द्वारा ही यह पालित भी हुआ है। मैं करोड़ों जन्मों में भी तेरा ऋण नहीं चुका सकूँगा। यदि मैंने जानबूझ कर अथवा अनजाने में संन्यास ले भी लिया है तथापि मैं कभी तुझे उदास नहीं होने दूँगा। तू जहाँ कहेगी मैं वहीं रहूँगा, जो आज्ञा देगी वही करूँगा।' इतना कहकर वे जननी को पुनः पुनः नमस्कार करने लगे और माँ भी उन्हें बारम्बार गोद में लेकर पुचकारने लगीं।

पुत्र की सुमधुर वाणी तथा अतिशय श्रद्धाभक्ति देखकर माँ का हृदय पुलकित हो उठा। शचीदेवी ने स्नेह विगलित हृदय से अपने हाथों भोजन पकाकर पुत्र को भिक्षा प्रदान की। चैतन्यदेव के इच्छानुसार शचीदेवी ने भी कई दिनों तक अद्वैताचार्य के ही भवन में निवास किया। सभी लोग नवीन संन्यासी को भिक्षा देने में अत्यन्त उत्सुक थे।

यह देखकर शचीदेवी ने सबसे अनुरोध करते हुए कहा, "तुम लोगों का तो निमाई से अन्यत्र भी मिलन हो सकता है, पर मुझे अब उसका और कहाँ दर्शन मिलने वाला है? जब तक निमाई आचार्य के घर में रहेगा, तभी तक तो मैं अभागिनी उसका दर्शन कर सकूँगी। अतः मैं

तुम सभी से याचना करती हूँ कि उसे मेरी भिक्षा लेने दी जाय।"

शचीदेवी की अभिलाषा जानकर बाकी सभी लोग पीछे हट गये। प्रतिदिन वे ही आचार्य तथा उनकी भक्तिमती पत्नी की सहायता से खाना पकाकर निमाई को भिक्षा देने लगीं। (क्रमशः)

○

ज्ञान और विज्ञान

(गीताध्याय ७, श्लोक १-२)

स्वामी आत्मानन्द

(रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के संस्थापक-सचिव तथा 'विवेक ज्योति' के सम्पादक ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी ने आश्रम के रविवासरीय सत्संग में श्रीमद् भगवद्गीता पर २ जुलाई १९६७ से १८ जनवरी १९७६ तक २१३ प्रवचन दिये थे जिन्हें विवेक ज्योति में धारावाहिक रूप से प्रकाशित किया जा रहा है। उनमें से प्रथम ४४ प्रवचन पुस्तकाकार रूप में गीतातत्त्व-चिन्तन भाग १ के नाम से प्रकाशित हो चुकी है तथा बाद के ३४ प्रवचन प्रकाशन हेतु प्रेस में है––स०)

आज से हम गीता के सातवें अध्याय की चर्चा में प्रवृत्त हो रहे हैं। इसका नाम है 'ज्ञान विज्ञान योग'। सामान्यत: विज्ञान कहने से हमें अंग्रेजी के 'सायन्स' (Science) का बोध होता है। पर यहाँ पर विज्ञान उस अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है। ज्ञान में 'वि' उपसर्ग लगा है जिसके दो अर्थ होते हैं–एक विपरीत व दूसरा विशिष्ट। विपरीत अर्थ को लेने पर विज्ञान का अर्थ होगा–ज्ञान का विपरीत अर्थात् ज्ञान का विरोधी भाव। पर यह अर्थ यहाँ पर अभिप्रेत नहीं है। यहाँ पर विज्ञान का तात्पर्य विशिष्ट ज्ञान है। ज्ञान और विज्ञान में क्या अन्तर है इसे श्रीरामकृष्ण अपनी सरल सहज भाषा में बड़े सुन्दर ढंग से समझाते हैं जिसके माध्यम से हमें इस अध्याय को हृदयंगम करने में विशेष सुविधा होगी। वे कहते हैं. "किसी ने दूध के सम्बन्ध में पढ़ा है या सुना है, किसी ने दूध को देखा है और किसी ने दूध को चखा है।" ये तीन स्थितियाँ हो सकती हैं–पहली, पढ़कर या सुनकर मुझे जानकारी मिली, दूसरी, मैंने स्वयं देखा और तीसरी, मैंने स्वयं

चखा । तो जो प्रथम अबस्था है उसे श्रीरामकृष्ण अज्ञान की अवस्था कहते हैं । और कभी कभी ऐसा अज्ञान विपरीत ज्ञान का भी कारण बन जाता है । जो दूध को देखने की स्थिति है वह है ज्ञान और जो दूध को चखने की अवस्था है वह है विज्ञान । पढ़कर और सुनकर जो ज्ञान प्राप्त होता है वह विपरीत ज्ञान का कारण कैसे बन सकता है ? इस सम्बन्ध में श्रीरामकृष्ण एक दृष्टान्त देते हैं—एक जन्मान्ध था । बचपन से ही उसके ऊपर से माँ बाप का साया उठ गया था । अनाथ के रूप में वह बड़ा हुआ । भीख माँगकर पेट पालता था । एक दिन उसको अपने दूसरे भिखारी मित्र से भेंट हुई । उसने सूरदास से कहा, "मित्र, तुम सेठ के यहाँ नहीं आये । उसने भीख में बहुत अच्छी अच्छी चीजें दीं । हम सबको छककर भोजन कराया ।" सूरदास ने कहा, "मुझे तो मालूम नहीं था । अच्छा, तुम लोगों ने क्या क्या चीजें खायीं !" उसने सूची बता दी और कहा, "सबसे बढ़िया खीर बनी थी ।" जन्मान्ध भिखारी ने पूछा, "यह खीर क्या चीज होती है ?"

मित्र ने कहा, "अरे, तुम खीर नहीं जानते ? उसे दूध और चावल मिलाकर बनाया जाता है ।"

सूरदास बोला, "चावल तो जानता हूँ, पर दूध क्या है ? उसने कहा, "दूध पानी की तरह होता है और सफेद होता है ।"

अन्धे ने कहा, "पानी तो जानता हूँ पर यह सफेद क्या है ?" अब आँखवाला भिखारी सोचने लगा कि इसे सफेद कैसे समझाऊँ । अचानक उसे युक्ति सूझी । उसने कहा, "अरे, सफेद ? जैसा बगुला सफेद होता है ।"

अन्धे ने कहा "बगुला क्या चीज है ?" अब आँखवाला कैसे समझाये कि बगुला क्या होता है। उसने अपने हाथ को टेढ़ा करके उसके सामने बढ़ाया और कहा, "देखो, बगुला ऐसा होता है।" अन्धे ने उसके हाथ को टटोलकर कहा, "भैया यह बगुला तो बहुत टेढ़ा होता है, ऐसी टेढ़ी खीर तुमने कैसे खायी ?" तो श्रीरामकृष्ण कहते हैं कि पढ़कर सुनकर जो जानकारी मिलती है वह अज्ञान है, और वह टेढ़ी खीर की तरह विपरीत ज्ञान का कारण भी बन जाती है। तात्पर्य यह कि जिसने दूध को देखा है वह भी उसे जानने में भूल कर सकता है। कैसे ? तीन कटोरियों में अलग-अलग सफेद वस्तु रख दी गयी हैं। एक में मठा है, दूसरे में चूने का घोल और तीसरे में दूध। जिसने दूध को देखा है उससे यदि कहा जाय कि बताओ, इसमें दूध कौन सा है, तो देखने मात्र से वह व्यक्ति दूध को नहीं पहचान पायेगा क्योंकि तीनों कटोरियों में जो द्रव है वह दिखने में एक जैसा है। पर जिसने दूध को चखा है वह तीनों कटोरियों के द्रव को चखकर बता देगा कि दूध किस कटोरी में है। उससे दूध के बारे में कोई भूल नहीं हो सकती। तो श्रीरामकृष्ण कहते हैं कि दूध को देखना ज्ञान है तथा उसे पीना और पीकर हृष्ट पुष्ट होना विज्ञान है। किसी वस्तु के बारे में सामान्य रूप से जानकारी होना ज्ञान है पर उसकी विशेष रूप से जानकारी हासिल करना विज्ञान है। एक देखना वह होता है कि कोई मोटर में बैठकर किसी शहर को देख ले और दूसरा देखना वह कि पैदल चलकर शहर की हर गली को देखें। दोनों में कितना अन्तर है ? मोटर में बैठकर घूमनेवाले व्यक्ति को अगर बीच

में कहीं उतार दिया जाय तो वह रास्ता भूल जाएगा। जैसे मुझे अभी भी भिलाई के रास्तों का पता नहीं चलता। क्योंकि मैं जब भी वहाँ गया हूँ तो मोटर में मुझे ले जाया गया है। अगर मुझे वहाँ मोटर से उतार दिया जाए तो मैं निर्दिष्ट स्थान पर नहीं पहुँच पाऊँगा। पर जो व्यक्ति पैदल घूमता रहता है, उसे कहीं भी उतार दिया आए, वह ठीक स्थान पर पहुँच जाएगा। क्योंकि उसने भिलाई को अच्छी तरह देखा है, विशेष रूप से देखा है। उसी प्रकार ईश्वर के सम्बन्ध में जब हम सामान्य ज्ञान अर्जित करते हैं, पढ़कर अथवा साधना आदि के कारण तो वह ज्ञान की श्रेणी में आयेगा। पर जब ईश्वर की साक्षात् अनुभूति होती है तो उसे विज्ञान कहते हैं। भगवत्पाद शंकराचार्य विज्ञान की परिभाषा करते हुए अपने भाष्य में कहते हैं कि विज्ञान का तात्पर्य है—स्वानुभवसंयुक्त-ज्ञान अर्थात् स्व अनुभवजनित ज्ञान। गुरु ज्ञान देते हैं। और उस ज्ञान की जब व्यक्ति अपने जीवन में अनुभूति करता है तो वह विज्ञान हो जाता है। इस ज्ञान-विज्ञान के माध्यम से परमात्मा से कैसे युक्त हुआ जाए इसकी चर्चा सातवें अध्याय में की गयी है। इसकी विशिष्टता यह है कि ईश्वर यहाँ पर स्वयं अपने स्वरूप का उद्घाटन कर रहा है। छठवें अध्याय में भी भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने स्वरूप के सम्बन्ध में संक्षेप में वर्णन किया है पर सातवें अध्याय में उन्होंने जितनी सूक्ष्मता के साथ अपने स्वरूप के बारे में बताया है वह अन्य पिछले अध्यायों में प्राप्त नहीं होता।

यहाँ पर अध्याय का प्रारम्भ होता है—'भगवान् उवाच' से। अब तक के अध्यायों में हमने देखा है कि

अर्जुन प्रश्न पूछता है और भगवान् उत्तर देते हैं। किन्तु यहाँ पर अर्जुन कुछ पूछता नहीं। भगवान् स्वयं ही उसे उपदेश देना प्रारम्भ कर देते हैं। यह भगवान् श्रीकृष्ण की अर्जुन के प्रति अनन्य प्रीति का द्योतक है। हमारे शास्त्रों में कहा गया है कि बिना पूछे किसी को उपदेश देना नहीं चाहिए। क्यों ? इसलिए कि जब हम अपात्र को बिना पूछे उपदेश देने लगते हैं तो वह व्यर्थ हो जाता है है। उपदेश तो उसे देना चाहिए जिसके मन में संशय है, जो जीवन में जिज्ञासा लेकर आया है। पर यहाँ भगवान् अर्जुन के बिना पूछे ही उपदेश देते हैं, क्योंकि वे अन्तर्यामी हैं। वे अर्जुन के मस्तिष्क को पढ़ लेते हैं। उसकी जिज्ञासा को जान जाते हैं। जब मैं ब्रह्मचारी के रूप में उत्तरकाशी में था तो वहाँ एक प्रसिद्ध साधु थे— देवदत्त महाराज। वे बड़े वेदान्ती थे, दिगम्बर रहते थे। उनमें ऐसी क्षमता थी कि जो व्यक्ति उनके पास जाता, वे उसका मनोभाव भाँप जाते थे और कभी कभी उसके पूछे बिना ही उपदेश प्रदान करते थे। कभी कभी इसलिए कहा क्योंकि प्रश्न पूछने पर प्रायः वे उसका उत्तर नहीं देते थे। मैंने कई बार देखा कि उनके पास भक्त गये हैं और उनसे पूछ रहे हैं, "महाराज, हमारा कल्याण कैसे होगा ? " या "ईश्वर में मन कैसे लगे ?" पर वे कोई उत्तर नहीं देते थे। काष्ठ मौन धारण कर लेते थे। अन्त में लोग हार मानकर चले जाते थे। फिर यह भी देखा कि एक व्यक्ति वहाँ पर आया हुआ है और बिना उसके कुछ पूछे ही वे बोले चले जा रहे हैं। बाद में पता चला कि उस व्यक्ति के प्रश्नों का समाधान हो गया। एक दिन मैंने उनसे पूछा, "महाराज, धृष्टता न हो तो एक

बात पूछूँ ? आपने कुछ व्यक्तियों के प्रश्न पूछने पर कोई उत्तर नहीं दिया तथा एक के कुछ न पूछने पर भी स्वयं बोलते रहे, यह कैसी बात है?" उन्होंने कहा, "ब्रह्म-चारीजी, पहले जो व्यक्ति पूछ रहे थे, उनके हृदय में कोई श्रद्धाभाव नहीं था। वे तो साधुओं से कुछ पूछना चाहिए, यह सोचकर पूछ रहे थे। सब समय उनका मन दुनियादारी में था। उनमें न कोई जिज्ञासा थी, न कुतूहल, मात्र शिष्टाचार था। और मैं शिष्टाचार का पालन कोई कर्त्तव्य नहीं मानता हूँ। पर जिस व्यक्ति को मैंने बिना उसके पूछे कुछ कहा, उसके मन में बड़ी आकुल जिज्ञासा थी। उसके मन में यह संकोच भाव भी था कि महाराज से मैं कैसे पूछूँ।" मैंने कहा, "आप यह सब कैसे जान जाते हैं ?" उन्होंने हँसते हुए कहा, "देखो ब्रह्मचारीजी हमारी उमर सत्यासी होने को चली है। हमने केवल घास नहीं खोदी है।" यह उनका उत्तर देने का तरीका था। तो यहाँ पर भी श्री भगवान् स्वयं ही अर्जुन को सम्बोधित करते हैं—

श्रीभगवानुवाच—

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥७।१॥
ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमिवशिष्यते ॥७।२॥

श्रीभगवान् (श्री भगवान्) उवाच (बोले)—

पार्थ (हे पृथापुत्र) मयि (मुझमें) आसक्तमनाः (मन को आसक्त किया हुआ) मदाश्रय (मेरे परायण हुआ) योगम् (योग में) युञ्जन् (लगा हुआ) असंशयम् (संशयरहित हो) माम् (मुझको) समग्रम् (सम्पूर्णता

से) यथा (जिस प्रकार) ज्ञास्यसि (जानेगा) तत् (उसको) श्रृणु (सुन)

श्री भगवान् बोले–"हे पृथापुत्र, (तू) मुझमें (अनन्य भाव से) मन को आसक्त किया हुआ, मेरे परायण हुआ योग में लगा हुआ, संशयरहित हो मुझको सम्पूर्णता से जिस प्रकार जानेगा उसको (तू मुझसे) सुन।"

अहम् (मैं) ते (तेरे लिए) सविज्ञानम् (अनुभव-युक्त) इदम् (इस) ज्ञानम् (तत्त्व ज्ञान को) अशेषतः (सम्पूर्णता के साथ) वक्ष्यामि (कहूँगा) यत् (जिसको) ज्ञात्वा (जानकर) इह (यहाँ) भूयः (फिर) अन्यत् (दूसरा कुछ भी) ज्ञातव्यम् (जानने योग्य) न अवशिष्यते (बाकी नहीं रहता)।

"मैं तेरे लिए अनुभवजनित इस तत्त्वज्ञान को सम्पूर्णता के साथ कहूँगा जिसको जानकर यहाँ (संसार में) फिर दूसरा कुछ भी जानने योग्य बाकी नहीं रहता।"

यहाँ पर श्री भगवान् अर्जुन को तीन गुणों से युक्त मानते हैं। वे कहते हैं–तू 'मय्यासक्तमनाः' है–तेरा मन मुझमें आसक्त है; योगं युजन् है—योग में लगा हुआ है तथा मदाश्रय है—मुझे ही अपना आश्रय मानता है ऐसा तू जो तीन गुणों से युक्त है, संशयरहित होकर सम्पूर्णता के साथ मुझे कैसे जानेगा उसे तू सुन। भगवान् ऐसा क्यों कहते हैं? छठवें अध्याय के अन्तिम श्लोक में भगवान् ने कहा—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥६/४७॥

–"समस्त योगियों में जो योगी मद्गत' हो गया है अर्थात् जिसकी अन्तरात्मा मुझमें स्थित हो गयी है तथा

जो श्रद्धापूर्वक मेरा भजन करता है, उसको मैं सर्वश्रेष्ठ योगी मानता हूँ ।" तो ऐसा योगी समग्रता के साथ भगवान् को कैसे जानेगा इसका उपाय बताने के लिए भगवान् अपने स्वरूप का वर्णन इस अध्याय में करते हैं । यहाँ योगी का तात्पर्य कर्मयोगी से है । हमने पहले ही कहा कि गीता में जहाँ भी 'योग' स्वतन्त्र रूप से आया है उसका तात्पर्य कर्मयोग समझना चाहिए । और कर्मयोगी वह है जो सांसारिक कर्म करत हुए भगवान् का स्मरण बनाये रखता है । उसे प्रत्येक क्रिया में ईश्वर का स्मरण बना रहता है तथा वह अपने कर्मों के फल को ईश्वर के प्रति समर्पित करता है । तो अर्जुन कर्मयोगी था । भगवान् स्वयं कहते हैं कि तेरा मन मेरे प्रति आसक्त है, तू योग में लगा हुआ है तथा सभी प्रकार से मेरे प्रति आश्रित है । अर्जुन पूरी तरह भगवान् के प्रति समर्पित था । प्रसंग आता है--महाभारत युद्ध प्रारम्भ होने जा रहा है । दुर्योधन और अर्जुन दोनों ही भगवान् कृष्ण के पास पहुँच गए । श्रीकृष्ण तब शयन कर रहे थे । अर्जुन उनके चरणों के पास बैठ गया और दुर्योधन सिरहाने पर । जब श्रीकृष्ण की नींद खुलती है तो वे अर्जुन को पहले देखते हैं और उससे पूछते हैं, "अर्जुन, तुम कब आये ?" दुर्योधन बोल उठता है, "देखिये, मैं पहले आया हूँ, इसलिए मेरी माँग पर आपको पहले विचार करना होगा ।" भगवान् कृष्ण ने कहा, "राजन्, भले आप पहले आये पर मैंने अर्जुन को पहले देखा है और अर्जुन आपसे छोटा भी है । अतः माँगने का पहला अधिकार मैं अर्जुन को दूँगा । एक ओर मेरी एक अक्षौहिणी नारायणी सेना रहेगी और दूसरी ओर मैं अकेला रहूँगा ।

फिर मैंने भीष्म के सामने प्रतिज्ञा की है कि युद्ध में मैं शस्त्र नहीं उठाऊँगा।" दुर्योधन बहुत बिगड़ा और यह सोचकर घबड़ाया कि अर्जुन तो एक अक्षौहिणी सेना माँग लेगा। पर अर्जुन ने श्रीकृष्ण को ही चाहा। यही मदाश्रय है। अर्जुन समझता है कि मेरे एकमात्र आश्रय भगवान् हैं। ऐसे अर्जुन से भगवान् कहते हैं— तू संशयरहित हो, समग्र रूप से मुझे कैसे जानेगा वह सुन। तात्पर्य ज्ञान तो होता है, पर कई बार संशय बना रहता है। जैसे किसी को ईश्वर दर्शन हुआ पर संदेह बना रहा कि दर्शन यथार्थ रूप से हुआ कि नहीं। कहीं यह मन की कल्पना तो नहीं। श्रीरामकृष्णदेव को पहले पहल विभिन्न प्रकार की अनुभूतियाँ होती थीं। एक दिन उन्होंने नरेन्द्र (जो बाद में स्वामी विवेकानन्द बने) से कहा, "देख रे, माँ ने मुझे ऐसा दिखाया है।" इस पर नरेन्द्र ने कटाक्ष करते हुए कहा, "माँ ने दिखाया है या आपने अपनी कल्पना से देखा है?" श्रीरामकृष्ण को नरेन्द्र के कथन पर ऐसा विश्वास कि उन्हें लगता है कि कहीं ये सब मेरे मन की कल्पना तो नहीं। वे दौड़कर मन्दिर में जाते हैं और माँ से कहते हैं, "माँ, नरेन कहता है कि यह दर्शन सब मेरे दिमाग की उपज है। तो माँ, क्या तूने मुझे गँवार समझकर ठग लिया?" जगन्माता उन्हें आश्वस्त करती हैं कि वे सब दर्शन यथार्थ हैं तब वे जाकर निश्चिन्त होते हैं। श्रीरामकृष्ण की अवस्था तो अत्युच्च थी। उनसे सामान्य साधकों की तुलना नहीं की जा सकती। पर साधक भी जब साधना में आगे बढ़ता है तो उसे भी दर्शन होते हैं। साथ ही मन में संशय जागता है कि ये दर्शन सही हैं अथवा मिथ्या।

इसकी कसौटी क्या है ? यदि दर्शन के फलस्वरूप हमारी वासनाएँ कम होती हैं, पाप का प्रकोप कम होता है, मन प्रशान्तता का अनुभव करता है तो मानना होगा कि दर्शन सही है । पर यदि हमें दर्शन पर दर्शन हों, पर जीवन में कोई बदलाव न आये, मन वासनाओं से भरा हो तथा नाम, यश, धन, सम्पत्ति की कामनाएँ भीतर ही भीतर जोर मारती हों तो कहना होगा कि ऐसा दर्शन मिथ्या है । जब यथार्थ दर्शन होगा तब मन में कोई संशय नहीं रह जायेगा ।

फिर भगवान् कहते हैं कि तू मुझे समग्रता से जानेगा । इसका तात्पर्य क्या ? विभिन्न टीकाकारों ने इसके अलग-अलग अर्थ किये हैं । 'समग्रं मां' से शंकराचार्य का तात्पर्य है—भगवान् को सम्पूर्ण रूप से जानना अर्थात् विभूति, ऐश्वर्य, शक्ति आदि से युक्त भगवान् को सम्पूर्णता से जानना । इसीलिए इस षट्क में विभूति, विश्वरूप प्रदर्शन आदि का विवेचन है । रामानुजाचार्य के अनुसार समग्र शब्द का अर्थ जीव, प्रकृति रूप शरीर है । समग्रता से जानने का एक तात्पर्य यह भी है कि भगवान् के साथ जीव, जगत् का क्या सम्बन्ध है तथा आत्मा परमात्मा और जगत् की जो त्रिपुटी है उनमें परस्पर जो सम्बन्ध है, उसे जानना ।

अगले श्लोक में भगवान् अर्जुन से कहते हैं कि तुझे विज्ञान सहित ऐसा ज्ञान सम्पूर्णता से बतलाऊंगा कि जिसे जानने पर अन्य कुछ जानने योग्य नहीं रह जाता है । ज्ञान और विज्ञान की चर्चा हमने पहले की है । यहाँ पर भगवान् ऐसा ज्ञान बताने की बात कह रहे हैं जो विज्ञान से युक्त हो अर्थात् जो अनुभूतिजन्य ज्ञान हो

और उसे भी सम्पूर्णता के साथ। पर क्या वह बता पाना सम्भव है? श्रीरामकृष्ण देव ने भी अपने शिष्यों को यह अनुभूतिजन्य ज्ञान बताने का प्रयास किया था। उन्होंने कहा था, "कुण्डलिनी शक्ति सामान्यतया प्रथम तीन चक्रों में—मूलाधार, स्वाधिष्ठान तथा मणिपुर चक्रों में अवस्थित रहती है। साधना के द्वारा वह जाग्रत् होती है जब वह हृदय में अनाहत चक्र पर आती है तो साधक को ज्योति दर्शन होता है। पर कभी कभी हृदय में पहुँचने पर भी मन नीचे के चक्रों में उतर आ सकता है। जब मन हृदय का अतिक्रमण कर कण्ठ में विशुद्ध चक्र पर पहुँचता है तो उसके लिए ईश्वरीय चर्चा छोड़ अन्य किसी विषय में बातें करना सम्भव नहीं होता। यहाँ से भी नीचे के चक्रों में जाने की सम्भावना रहती है। कण्ठ का अतिक्रमण कर जब मन भ्रूमध्य में आज्ञा चक्र पर आरूढ़ होता है तब परमात्मा का दर्शन मिलता है और जीव को समाधि लग जाती है। उस समय परमात्मा और जीवात्मा के बीच केवल एक काँच की तरह स्वच्छ पतले परदे मात्र का व्यवधान रह जाता है तब उसे इस प्रकार का दर्शन होता है"—ज्योंही श्रीरामकृष्ण ने परमात्मा के दर्शन की बात कहना प्रारम्भ किया कि वे तत्काल समाधि मग्न हो गये। समाधि भंग होने पर जब उन्होंने पुनः कहने का प्रयास किया तो उस समय फिर उनकी समाधि लग गयी! इस प्रकार बारम्बार प्रयास करने के बाद उनके नेत्रों में आँसू भर आये और वे शिष्यों से बोले, अरे, मैं तो तुम लोगों से सब कुछ कहना चाहता था. कुछ भी छिपाने की मेरी इच्छा नहीं थी, किन्तु माँ ने मुझे कुछ भी कहने नहीं दिया—मेरा मुँह पकड़ लिया!"

स्वामी सारदानन्दजी जो वहाँ श्रोताओं में से एक थे अपने प्रसिद्ध ग्रंथ श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग में लिखते हैं, "उनकी इस बात को सुनकर हम अवाक् रह गये और यह सोचने लगे कि कैसी विचित्र घटना है ! हम देख रहे हैं कि वे कहने के निमित्त कितना प्रयास कर रहे हैं और यह भी अनुभव कर रहे हैं कि उनके लिए कहना सम्भव न होने के कारण उन्हें कष्ट भी हो रहा है—पर किसी भी प्रकार वे कह नहीं पा रहे हैं। माँ, किन्तु कैसी नटखटी है ! माँ के लिए क्या ऐसा करना उचित है ? वे अच्छी बात—भगवदर्शन की ही बात तो कहना चाह रहे हैं, फिर माँ क्यों उनके मुँह को पकड़ लेती है ? तब हम यह नहीं समझ सके थे कि मन-बुद्धि—जिनकी सहायता से बोला-चाला जाता है उनकी गति अधिक दूर नहीं है तथा जहाँ तक दौड़ धूप करना उनके लिए सम्भव है, उस सीमा के बाहर गये बिना परमात्मा का पूर्ण दर्शन नहीं होता ! हमारे प्रति प्रेम रहने के कारण श्रीरामकृष्ण देव असम्भव को भी सम्भव करने का प्रयास कर रहे हैं—इस बात को समझना क्या उस समय हमारे लिए सम्भव था ?"[१]

शास्त्रों में भी ब्रह्म के बारे में कहा गया है, 'अवाङ्मनसगोचरं" – वह वाणी मन से परे है । "न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनः"—वहाँ न नेत्र पहुँचते हैं, न वाणी, न मन । 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" —मन के साथ वाणी जिसे न पाकर लौट आती है । तो ऐसी अवस्था को श्रीरामकृष्ण वाणी में

१. श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग, द्वितीय खण्ड पृ. ५७-५८

बाँधना चाहते थे। यह तो सम्भव था नहीं। इसलिए उसे वे एक प्रतीकात्मक भाषा में कहते हैं——माँ मेरा मुँह दबा देती है, बोलने नहीं देती। यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि इस विज्ञान को, अनुभूति जन्य ज्ञान को 'अशेषत':– सम्पूर्णता के साथ कहूँगा। और हम देखते हैं कि श्रीकृष्ण जिसे वाणी के द्वारा अर्जुन को व्यक्त नहीं कर पाते हैं उसे दिव्य चक्षु प्रदान करके पूरा करते हैं। ग्यारहवें अध्याय में भगवान् कहते हैं—— दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥—— "मैं तुझे दिव्य चक्षु प्रदान करता हूँ। उससे तू मेरे ऐश्वर्य को देख।"

आगे भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि इसे जानने के पश्चात् और कुछ जानना बाकी नहीं रहता। सामान्य दृष्टि से लगता है कि श्रीकृष्ण कितना बड़ा दावा करते हैं कि वे जो अनुभूतिजन्य ज्ञान बतायेंगे उसे जानने के बाद और कुछ जानना शेष नहीं रह जाता। और श्रीकृष्ण इसका विवेचन आगे करते हैं। मुण्डक उपनिषद् में भी हम देखते हैं कि शौनक अंगिरा ऋषि से प्रश्न पूछते हैं——

कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति। १/३ ——'भगवन् वह क्या है जिसको जान लेने पर सब कुछ का ज्ञान हो जाता है।" अंगिरा उत्तर में कहते हैं——

द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैव परा च ॥१/४॥ ——"शौनक! ब्रह्म को जानने वाले महर्षियों का कहना है कि मनुष्य के जानने योग्य दो विद्याएँ हैं—एक परा दूसरी अपरा।"

शौनक के मन में प्रश्न जागता है कि यह परा और अपरा विद्या क्या है ? अंगिरा कहते हैं—

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति । अथ परा यया तदक्षरमधिगम्य ॥१/५॥

—"ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष ये सब अपरा विद्या के अन्तर्गत आते हैं तथा जिससे वह अविनाशी परब्रह्म तत्त्व से जाना जाता है वह परा है।"

तात्पर्य यह कि जितने वेद शास्त्र हैं तथा उनमें वर्णित जो लौकिक और आध्यात्मिक विद्याएँ है वे सब अपरा विद्या के अन्तर्गत आती हैं तथा यह सब ज्ञान की श्रेणी में आते हैं किन्तु परा विद्या विज्ञान है जिसके द्वारा परब्रह्म की अनुभूति होती है । इस जीव जगत् की उत्पत्ति ब्रह्मा से हुई है। अतः यदि ब्रह्म तत्त्व की उपलब्धि हो जाय तो फिर और जानने योग्य फिर कुछ बाकी ही नहीं रहता। अनुभूति जन्य ज्ञान से भगवान् श्रीकृष्ण का यही अभिप्राय है।

★

मानस रोग (१२/१)

पण्डित रामकिंकर उपाध्याय

(पण्डित उपाध्यायजी ने रायपुर के इस आश्रम में विवेकानन्द जयन्ती समारोह के अवसरों पर 'श्री रामचरितमानस' के अन्तर्गत 'मानसरोग' प्रकरण पर सब मिलाकर 46 प्रवचन प्रदान किये थे। प्रस्तुत लेख उनके बारहवें प्रवचन का पूर्वार्धं है। टेपबद्ध प्रवचनों के अनुलेखन का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं।—स०)

आयुर्वेद शास्त्र की यह मान्यता है कि प्रत्येक व्यक्ति के शरीर में त्रिधातु विद्यमान है। और जब इन धातुओं में समता रहती है तब मनुष्य स्वस्थ रहते हैं, और जब इनमें विषमता आ जाती है तब व्यक्ति अस्वस्थ हो जाता है। जैसाकि सूत्र में कहा गया है—

रोगस्त्रिधातु वैषम्यम् धातु साम्यमरोग्यता।

ठीक इसी सूत्र को मानस में मन के संदर्भ में भी प्रस्तुत किया गया है। जैसे शरीर में वात-पित्त-कफ त्रिधातु के रूप में विद्यमान हैं, इसी तरह प्रत्येक व्यक्ति के मन में भी काम, लोभ, और क्रोध विद्यमान हैं। जब तक ये व्यक्ति के जीवन में तथा समाज में संतुलित और नियमित रूप में रहते हैं, व्यक्ति स्वस्थ रहता है तथा समाज भी स्वस्थ रहता है और जब इनमें अतिरेक उत्पन्न हो जाता है, असंतुलन उत्पन्न हो जाता है, तो उसके परिणामस्वरूप व्यक्ति और समाज दोनों अस्वस्थ हो जाते हैं।

पूर्व प्रवचन में आपके सामने क्रोध की चर्चा प्रारम्भ की गई थी। श्रीरामचरित मानस में क्रोध का जो स्वरूप प्रस्तुत किया गया है, उसमें दो प्रकार के दृष्टान्त आपके सामने आते हैं। एक ओर ऐसे दृष्टान्त मिलेंगे जिसमें यह

दिखाई देता है कि क्रोध का कितना संतुलित उपयोग किया जा सकता है। और दूसरी ओर इसका जो अतिरेक है, अनियंत्रण है, वह भी सामने आता है। एक प्रसंग आता है जिसमें क्रोध के नियंत्रित और अनियंत्रित, दोनों ही रूपों को सांकेतिक भाषा में प्रस्तुत किया गया है। भगवान् शंकर सती से वियोग होने के पश्चात् आत्मलीन हो जाते हैं। उन्हें किसी बहिरंग व्यक्ति या बहिरंग सुख की आवश्यकता नहीं है। किन्तु भगवान् शंकर के इस अन्तर्मुखता का लाभ तारकासुर उठाता है। तारकासुर ने ब्रह्मा से यह वरदान माँगा कि मैं अमर होना चाहता हूँ। ब्रह्मा ने कहा कि यह सम्भव नहीं है, तुम्हें मृत्यु का कोई न कोई मार्ग तो स्वीकार करना ही होगा। तारकासुर ने सोचा कि भगवान् शंकर जब आत्मलीन हैं, तो ऐसी परिस्थिति में वे विवाह तो करेंगे नहीं। और जब विवाह नहीं करेंगे तो पुत्र भी नहीं होगा। यह विचार कर उसने ब्रह्माजी से यही वरदान माँगा कि महाराज, यदि मेरी मृत्यु हो तो शंकरजी के द्वारा उत्पन्न पुत्र के द्वारा ही हो, अन्य किसी प्रकार से नहीं। शंकरजी तो कामशून्य हैं। उसके फलस्वरूप उनमें निश्चलता और निष्क्रियता भी है, जो उनके जीवन में परम शान्ति का हेतु है। पर भगवान् शिव जिस अन्तर्मुखता में हैं, उसका लाभ तारकासुर को प्राप्त हो रहा है। इसका अभिप्राय यह है कि शंकरजी का यह सद्‌गुण अनजाने में ही दुर्गुण की शक्ति बन गया है। इससे मुक्ति पाने के लिये देवताओं ने सोचा कि शंकरजी के मन में किसी प्रकार से काम की सृष्टि की जाय। देवताओं ने काम का आह्‌वान किया

और उसे अपनी विपत्ति सुनाई तथा कहा कि तुम भगवान् शंकर के ऊपर आक्रमण करो और उनके मन में विवाह की लालसा उत्पन्न करो। जब भगवान् शंकर के मन में विवाह की लालसा उत्पन्न होगी तो वे विवाह करेंगे। तब उनसे जो पुत्र उत्पन्न होगा, उससे इस दैत्य का संहार होगा। काम बड़ी उत्कृष्ट वृत्ति को लेकर चला। उसमें उसका अपना कोई व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं था। उसने लोक-कल्याण के लिए यह कार्य स्वीकार किया। और यही नहीं अपितु उसने यह भी अच्छी तरह से समझ लिया कि इस कार्य में मेरा विनाश अवश्यम्भावी है। रामचरित मानस में कहा गया है--

सुरन्ह कही निज बिपति सब,
सुनि मन कीन्ह बिचार।। १/८३

--देवताओं ने जब अपनी विपत्ति कह सुनाई, तो काम ने मन में सोचा,

संभु बिरोध न कुशल मोहि,

--कि शिव के विरोध में मेरा कल्याण नहीं है। लेकिन इतना होते हुए भी एक नई बात हुई। व्यक्ति मृत्यु की कल्पना से भयभीत हो जाता है, पर काम मृत्यु की कल्पना से भयभीत नहीं हुआ, अपितु आनन्द से भर उठा।

संभु बिरोध न कुशल मोहि,
बिहसि कहेउ अस मार ।। १/८३

। --बड़े जोर से हँसकर कामदेव ने देवताओं से कहा--"जिस काम में आप लोग मुझे नियुक्त कर रहे हैं, उसमें तो मेरी मृत्यु अवश्यम्भावी है।" देवताओं ने कहा, --"तब तो आपके मन में हिचकिचाहट होगी।" उसने कहा--'नहीं'।

तदपि करब मैं काजु तुम्हारा ।
श्रुति कह परम धरम उपकारा ।।
परहित लागि तजइ जो देही ।
सतत संत प्रसंमहि तेही । १/८३/१-२

—इससे मेरे जीवन का एक सार्थक सदुपयोग हो जायगा । लोक-कल्याण के लिए अगर मेरा विनाश भी हो जाता है तो इसका कम से कम एक शुभ परिणाम यह होगा कि मेरा शाश्वत कलंक धुल जायगा । काम को लोगों ने केवल बुराई के रूप में देखा है, पर अब वे यह स्वीकार करेंगे कि काम का एक दूसरा पक्ष भी है । इसीलिए मैं इस कार्य को स्वीकार करता हूँ ।" पर आगे बड़ी विचित्र सी बात आती है कि शंकरजी काम को जला देते हैं । तो जो परोपकार रूप धर्म का आश्रय लेकर आया था, उसे जलाना क्या भगवान् शंकर के लिए उचित था ? गोस्वामीजी इन विकारों का सूक्ष्म विवेचन करते हुए कहते हैं कि काम इतना परोपकारी है तथा लोक-कल्याण का सृजन करने वाला है, तब उसे खल कह कर सम्बोधित क्यों किया गया । मानस में कहा गया है —

नात तीनि अति प्रबल खल काम क्रोध अरु लोभ ।
३/३८ (क)

—'काम, क्रोध और लोभ—ये तीन प्रबल खल हैं ।' इसका तात्पर्य यह है कि काम भले ही परोपकारी प्रतीत हो रहा हो पर यथार्थ में वह खल है । कैसे ? गोस्वामीजी एक संकेत देते हैं कि काम पहले क्रोध करता है । शंकरजी भी क्रोध करते हैं, पर बाद में । यह बड़ा विचित्र प्रसंग है । गोस्वामीजी लिखते हैं कि काम जब शंकरजी की ओर चला तो—

कोपेउ जबहिं बारिचर केतू । १/८३/६

—वह क्रोध में भर गया । काम ने क्रोध किया और भगवान् शिव भी क्रोध करते हैं । तो क्रोध के दो रूप सामने आ गए । परिष्कृत क्रोध कितना नियंत्रित होता है, यह शंकरजी के जीवन में है । और अपरिष्कृत क्रोध कितना घातक होता है, यह काम के जीवन में है । दोनों पात्र आमने-सामने हैं । गोस्वामीजी बड़े विस्तार से वर्णन करते हैं कि जिस समय कामदेव भगवान् शंकर पर आक्रमण करने को चला, तब चेतन व्यक्तियों की तो कौन कहे, जड़ प्रकृति में भी काम का संचार हो गया । इसका तात्पर्य क्या ? काम की यही वृत्ति कि उसने नियंत्रण में रहना ही नहीं सीखा । उसने यह सोचा कि जब मेरी मृत्यु अवश्यम्भावी है, तो क्यों न मृत्यु के पहले जाते जाते अपना चमत्कार दिखा दूँ । यह एक चिकित्सक की वृत्ति नहीं है । अगर चिकित्सक के हाथ में छुरी हो तो और यदि उसे रोगी की शल्य चिकित्सा करनी पड़े तो अपनी तेज धारवाली छुरी का उतना ही प्रयोग करता है, जितना रोगी की स्वस्थता के लिए आवश्यक है । लेकिन यदि चिकित्सक के मन में यह भाव आ जाय कि इस छुरी में जो तेज धार है, उससे हम और अंग काट कर जरा इसका चमत्कार दिखा दें, —तब तो उसे चिकित्सक नहीं मानेगा । तब तो वह दण्ड का पात्र बन जायगा । इसी प्रकार काम भी अपराधी बन गया । कैसे ? गोस्वामीजी ने एक शब्द लिखा —"कोपेउ" उसे क्रोध आ गया । परिणाम क्या हुआ ?

कोपेउ जबहिं बारिचर केतू ।
छन महुँ मिटे सकल श्रुति सेतू ।। १/८३/६

—जितने वेदरूपी पुल बने थे, उसने उन सबको तोड़कर रख दिया। नदी का जल क्या है ? वह जीवन का प्रतीक है। पर कब ? जब नदी का जल व्यक्ति को तृप्त करे, उसकी मलिनता को धोवे, तो जल जीवन है। पर यदि नदी में इतनी बाढ़ आ जाय कि पुलों को नष्ट कर दे, गाँवों को बहा दे तो फिर उस नदी की वेगवती धारा की प्रशंसा कोई नहीं करेगा, क्योंकि वह तो विनाश करने पर तुली हुई है। तो इस काम की जो वेगवती धारा प्रवाहित हुई, उसने पहला काम यही किया कि वेदों ने जिस सेतु का निर्माण किया था उसका ध्वंस कर दिया। और श्रुति-सेतु का ध्वंस करने के पश्चात् काम के द्वारा जो महान् दुष्कृत्य होता है, उसका गोस्वामीजी विस्तार से वर्णन करते हैं——

> ब्रह्मचर्ज ब्रत संजम नाना।
> धीरज धरम ग्यान बिग्याना॥
> सदाचार जप जोग बिरागा।
> सभय बिबेक कटकु सब भागा॥ १/८३/८
> सदग्रंथ पर्बत कन्दरन्हि महुँ,
> जाइ तेहि अवसर दुरे। १/८३/छं.

—"ब्रह्मचर्य, नाना प्रकार के संयम, धीरज, धर्म, ज्ञान और विज्ञान, सदाचार, जप, योग, वैराग्य आदि विवेक की सारी सेना डरकर भाग गयी।" यही नहीं जितने सद्ग्रंथ थे, वे जाकर पर्वत की गुफाओं में छिप गये। इसके फलस्वरूप न किसी के अन्त:करण में पढ़ने की रुचि है, न ब्रह्मचर्य में रुचि है और न ही सदाचार में रुचि है। प्रत्येक व्यक्ति के अन्तर्मन में एकमात्र तीव्रतम भोगलालसा की वृत्ति विद्यमान है। तो काम का क्रोध

कितना अनियंत्रित था ? देवताओं ने जब कहा कि तुम भगवान् शंकर के मन में विवाह की इच्छा उत्पन्न करो, तो उसका कर्तव्य मात्र इतना ही था कि वह शान्तिपूर्वक जाकर शंकरजी के मन में विवाह की इच्छा उत्पन्न करता। इस प्रकार वह अपनी क्षमता का संतुलित उपयोग करता। लेकिन वह सारे संसार को कामग्रस्त बनाकर अपनी क्षमता का दुरुपयोग करता है। उसका काम और क्रोध दोनों अनियंत्रित करता है। और जब यह काम कैलाश पर्वत के शिखर पर शंकरजी के पास पहुँचा तो गोस्वामीजी ने बड़ी विचित्र बात लिखी –– वहाँ पहुँचकर काम ने जैसे ही शंकरजी को देखा, बस, उनके दर्शनमात्र से संसार को एक बहुत बढिया लाभ मिल गया। क्या ?

सिवहि बिलोकि ससंकेउ मारू।
भयउ जथाथिति सब संसारू॥ १/८५/२

—ज्योंही काम ने भगवान् शंकर के इस घनीभूत वैराग्यमय रूप को देखा, तो ऐसा विचलित हुआ कि उसकी सारी क्षमताएँ समाप्त हो गयीं। और लोग जो तीव्र काम-वासना से व्याकुल हो चुके थे, उन्होंने अपूर्व प्रशान्ति का अनुभव किया, जैसे मानो उन्होंने काम के द्वारा शिव का दर्शन पाया हो। इस प्रकार काम लोगों में अनियंत्रित वासना का संचार करता है और भगवान् शिव ?

प्रभु समरथ सर्बग्य सिव, सकल कला गुन धाम।
जोग ग्यान बैराग्य निधि, प्रनत कल्पतरु नाम॥१/१०६

—"वे समर्थ, सर्बग्य और कल्याणस्वरूप हैं। सब कलाओं और गुणों के निधान हैं। योग, ज्ञान और वैराग्य

के भण्डार हैं। उनका नाम शरणागतों के लिए कल्पवृक्ष है।"

भगवान् शिव को देखकर काम स्वयं भी प्रशान्त हो जाता है और सब प्राणी भी शान्त हो जाते हैं। और अब भगवान् शिव की दृष्टि देखिए। काम बहुत चेष्टा करने के बाद भी भगवान् शंकर को प्रभावित नहीं कर पाता। शंकरजी वट-वृक्ष की छाया में बैठे हुए थे, वहीं पास में आम का वृक्ष भी था। काम को आम का वृक्ष बड़ा प्रिय है। वह आम के वृक्ष पर जाकर बैठ जाता है और अपने पुष्प के धनुष और बाण के द्वारा भगवान् शंकर के हृदय में सम्मोहन बाण का प्रहार करता है। काम का वह बाण जाकर भगवान् शंकर के हृदय में लगता है। तो जैसे कोई नेत्र मूँदकर बैठा हो और उसे अचानक चोट लग जाय तो उसकी दृष्टि बाहर की ओर जाती है, उसी प्रकार बाण लगने पर भगवान् शंकर तुरन्त नेत्र खोलकर यह देखते हैं कि मेरे अन्तर में बाहर जाने की वृत्ति कहाँ से आ गई। और तब गोस्वामीजी ने लिखा—

भयउ ईस मन छोभु बिसेषी।
नयन उघारि सकल दिसि देखी ।।१/८६/४

—उनकी पैनी दृष्टि से काम छिपा नहीं रह पाया। यही उनकी दृष्टि की विशेषता है। काम छिपा हुआ कहाँ है? आम के पत्तों की आड़ में। वह छोटा और बड़ा बनने की कला में बड़ा निपुण है। जब उसने शंकरजी के ऊपर आक्रमण किया, तब वह आम के पत्ते की आड़ में जा छिपा। काम का एक रूप तो वह है जो घातक और विध्वंसक है तथा प्रत्यक्ष रूप से हमारे आपके

जीवन में दिखाई देता है । पर काम कभी कभी अन्तर्मन में इतनी सूक्ष्मता से विद्यमान रहता है कि साधारण व्यक्ति उस काम को नहीं देख पाता । यह काम का दूसरा रूप है । लेकिन जिनकी दृष्टि भगवान् शंकर के समान सूक्ष्म है, उन पर काम चाहे कितना भी छिप कर आक्रमण क्यों न करे, वे उसे पहचान जाते हैं । शंकरजी की दृष्टि काम पर पड़ जाती है । और तब ? तब शंकरजी भी क्रोध करते हैं ।

भयउ कोपु कंपेउ त्रैलोका ।१/८६/५

—सारे देवता और संसार के लोग डर गए । डर कर सारे देवताओं ने सोचा कि इस बेचारे को हमने भेजा, अब न जाने क्या होगा । देवताओं को लगा कि शंकरजी अब अपना तीसरा नेत्र खोलने वाले हैं । प्रलयकाल में जब सारी सृष्टि को मिटाना होता है, तभी भगवान् शंकर अपनी तीसरी आँख खोलते हैं और तब सारी सृष्टि पूरी तरह से जलकर नष्ट हो जाती है । तो देवताओं को ऐसा लगा अब तो पूरे विश्व का विनाश हो जाएगा । जो भूल काम ने की, अगर वही भूल शिव के क्रोध में भी हो तो यह उचित न होगा । काम ने क्रोध में आकर सबको कामग्रस्त बना दिया और शंकरजी क्रोध में आकर यदि सारे विश्व को ही जलाकर नष्ट कर दें तो इसका अभिप्राय होगा कि क्रोध पर उनका कोई नियंत्रण नहीं है । आकाश में देवताओं ने उपस्थित होकर तुरन्त भगवान् शंकर से कहा —महाराज, कृपा कीजिए, कृपा कीजिए । आप क्रोध का उपसंहार कीजिए, शान्त हो जाइए ! भगवान् शंकर को उनकी बात सुनकर आश्चर्य हो रहा था, क्योंकि उनका क्रोध

सूक्ष्म और नियंत्रित है। वह काम के क्रोध से बिलकुल उल्टा है। कैसे ? भगवान् शंकर ने अपना नत्र खोला अवश्य, पर उससे सारी सृष्टि और सारे व्यक्तियों की तो बात क्या, यहाँ तक कि जिस आम के वृक्ष पर काम बैठा था, वह भी नहीं जला । केवल काम ही जला । गोस्वामीजी लिखते हैं —

तब सिवँ तीसर नयन उघारा ।
चितवत कामु भयउ जरि छारा ।।१/८६/६

—काम को छोड़कर, उन्होंने आम के पेड़ का एक पत्ता भी नहीं जलने दिया। और इसका अर्थ क्या ? यह कि शंकरजी अपने क्रोध पर कितना नियन्त्रण किये हुए हैं। काम आम के वृक्ष का आश्रय लेता है। आम का फल बड़ा रसीला होता है। उसके रस को पीने की व्यग्रता किसे नहीं होगी। ठीक इसी प्रकार से यह काम जब आम का आश्रय लेता है, तो इसका अभिप्राय यह है कि मन में जो रस की पिपासा है, उस रस का आश्रय लेकर काम व्यक्ति के अन्तःकरण में वासना का संचार करता है। पर भगवान् शंकर को लगता है कि काम इस रस के प्यास का दुरुपयोग करता है। इस रस के प्यास का सदुपयोग भी तो हो सकता है। और वह सदुपयोग हमें दिखाई देता है महानतम भक्त कागभुसुण्डि के जीवन में।

कागभुसुण्डि सुमेरू पर्वत के चार शिखरों पर विभिन्न प्रकार की साधना करते हैं उनमें से एक शिखर पर आम का वृक्ष लगा हुआ है। और वे उस आम के वृक्ष का उपयोग क्या करते हैं ? यहाँ पर बड़ा मार्मिक संकेत है। आम के वृक्ष का उपयोग काम भी करता है

और कागभुसुण्डिजी भी । इसका अभिप्राय यह है कि रस की जो प्यास है, उसीसे प्रेरित होकर व्यक्ति कामी बनता है और उसीसे भक्त । कागभुसुण्डिजी चार शिखरों पर, जहाँ 'क्रमश: वट, पीपल, पाकर और आम्र के एक एक विशाल वृक्ष हैं, बैठकर अलग अलग प्रकार की साधना करते हैं । तो आम के वृक्ष के नीचे बैठकर वे क्या करते हैं ?

आँब छाँह कर मानस पूजा ।७/५६/६

—आम की छाया में वे मानस पूजा करते हैं । यह 'मानसपूजा' बड़ा सार्थक शब्द है । आम से रस की इच्छा मन में उत्पन्न होती है । और मन में मनोज जुड़ा हुआ है । मनुष्य के अन्त:करण में रस की आकांक्षा है । और यही आकांक्षा मन को ब्रह्मरस की खोज में ले जाती है तथा अनन्त तृप्ति का अनुभव प्राप्त करती है ।

भगवान् शंकर इतनी सीमित मात्रा में क्रोध का प्रयोग करते हैं कि वासनात्मक अनियंत्रित काम तो नष्ट हो जाय पर समाज में रस की वृत्ति का विनाश न होने पावे । वे इतने नियंत्रित हैं कि काम की पत्नी के आने पर उस पर क्रोध नहीं करते । काम के साथ उसकी पत्नी रति भी आई थी पर शंकरजी ने काम को जलाया रति को नहीं । क्यों ? जितने भक्त हैं वे भगवान् से यही तो माँगते हैं कि उन्हें काम नहीं चाहिए पर रति तो चाहिए ही । रामायण में भरतजी से बढ़कर भक्त नहीं है । उनको काम की आकांक्षा है ही नहीं —

अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहहुँ निरबान ।

१/२०४

—"उन्हें न तो अर्थ चाहिए, न धर्म चाहिए, न काम चाहिए और न मोक्ष ही चाहिए।" तो क्या कुछ नहीं चाहिए ? वे कहते हैं—"एक चीज चाहिए।" क्या— ?

जनम जनम रति राम पद। १/२०४

—'रति चाहिए।' रति में जो तद्रूपता है, वह किस भक्त को नहीं चाहिए ? भक्त भी तो यही चाहता है कि हम भगवान् का ध्यान करते करते भगवान् के तद्रूप हो जायँ, एकाकार हो जायँ। तो भगवान् शंकर रति को भी जीवित रखते हैं और रस की आकांक्षा को भी। और इतना ही नहीं, काम को जीवित कर देने के लिए अनुरोध करती है। वह कहती है कि महाराज, आपने काम को जला दिया, पर मेरा क्या होगा ? और इसका अभिप्राय यह है कि भले ही भरतजी जैसे भक्तों के जीवन में कामशून्य रति हो सकती है, पर सर्वथा कामशून्य हो जाना तो संसार के सभी व्यक्तियों के लिए सम्भव नहीं है। मेरा तो अपना पति मिलन तभी होगा, जब काम विद्यमान रहेगा। तो भगवान् शंकर तुरन्त यह कह देते हैं—

अब तें रति तव नाथ कर होइहि नामु अनंगु।
बिनु बपु ब्यापहि सबहि......॥१/८९/९

—"अबसे तुम्हारे पति का नाम अनंग होगा, और वह अशरीरी होकर रहेगा।" जब इतने पर भी रति सन्तुष्ट नहीं होती तब भगवान् शंकर कहते हैं —

जब जदुबंश कृष्न अवतारा।
होइहि हरन महा महिभारा॥
कृष्न तनय होइहि पति तोरा।
बचनु अन्यथा होइ न मोरा॥१/८७/१-२

—"जब भगवान् द्वापरयुग में श्रीकृष्ण के रूप में अवतार लेंगे, तब तुम्हारा पति उनके पुत्र के रूप में जन्म लेगा।" इसका अभिप्राय यह है कि कामना सहित रति स्वीकार कर पाना तो केवल ईश्वर के लिए ही सम्भव है। इसकी परिपूर्णता भगवान् श्रीकृष्ण के जीवन में मिलती है। श्रीकृष्ण के द्वारा गोपियों को स्वीकार कर लेना तथा साथ ही कुब्जा को भी स्वीकार कर लेना मानो समग्र काम सहित रति को स्वीकार कर लेने का प्रतीक है। यही इसका तात्पर्य है।

भगवान् शंकर में नियन्त्रण की पराकाष्ठा है। उनका क्रोध पूर्णरूपेण नियन्त्रित है। उनके जीवन में कोई भी ऐसी वृत्ति नहीं है, जिस पर उनका नियन्त्रण न हो। यही भगवान् शंकर की स्वस्थता का प्रतीक है। और दूसरे पक्ष में वही काम के अस्वस्था का प्रतीक है। रामायण के प्रारम्भ में मानो यह स्वीकार किया गया है कि जब हम शिव के समान केवल बुराई को मिलने के लिए क्रोध को स्वीकार करते हैं, जितनी मात्रा से केवल बुराई मिट जाय पर भलाई पर आँच न आने पावे तो ऐसी परिस्थिति में क्रोध समाज और व्यक्ति को स्वस्थ बनानेवाला होता है। यह पित्त की उस भूमिका को पूरा करने वाला है, जिसके द्वारा भोजन पच कर शरीर को शक्ति प्रदान करता है तथा व्यक्ति को सुखी बनाता है। अनियन्त्रित क्रोध समाज और व्यक्ति को नाश की ओर ले जाता है। इसके अनेक दृष्टान्त हैं। सबसे बुरे क्रोध का चित्रण मिलता है रावण के चरित्र में। रावण के जीवन में अनियन्त्रित क्रोध की पराकाष्ठा है। इसीलिए रामायण में एक संकेत किया है कि कुछ

भले व्यक्ति भी ऐसे होते हैं, जो क्रोध के वशीभूत प्रतीत होते हैं। ठीक वैसे ही कुछ स्वस्थ लोगों को भी ज्वर हो जाता है। तो कभी कभी ऐसा दिखाई देता है कि भले व्यक्ति भी क्रोध में भर गये हैं, पर उनके क्रोध के पीछे समाज में बुराई मिटाने और भलाई करने की तीव्र आकांक्षा रहती है। जैसे एक परिवार में, जिसके प्रमुख व्यक्ति की यह धारणा होती है कि हमारे परिवार का प्रत्येक सदस्य अच्छा बने, बुरा कार्य न करे, तो ऐसी स्थिति में कभी कभी प्रमुख व्यक्ति क्रोध भी करता है, तो वहाँ पर क्रोध की सार्थकता हो सकती है। पर जहाँ पर क्रोध केवल विनाशकारी हो, अनियन्त्रित हो, जैसे क्रोध में आकर कोई व्यक्ति किसी का घर फूंक दे, तो चाहे वह भला व्यक्ति क्यों न हो, उसका क्रोध समाज के लिए घातक ही होगा। मान लीजिए कि किसी ने ऐसे व्यक्ति के घर में आग लगा दी हो, जो बड़ा बुरा व्यक्ति है। पर आग तो केवल उस बुरे व्यक्ति के घर तक ही सीमित नहीं रहेगी उससे उसके आसपास के भले व्यक्तियों का घर भी तो जलेगा। एक बार आग लगने के बाद क्या किसी के लिए यह सम्भव है कि वह उसे नियन्त्रित कर ले, एक ही घर जलने दे, अन्य घर न जले।

क्रोध स्वयं एक प्रतिक्रिया है। इस प्रतिक्रिया में यदि एक व्यक्ति क्रोध करता है, तो दूसरा व्यक्ति उसे देख कर क्रोधित हो उठता है, और इस प्रकार से क्रोध की प्रतिक्रिया समाज में व्याप्त हो जाती है। रामायण में इसका दृष्टान्तस्वरूप है, प्रतापभानु का चरित्र। प्रतापभानु के मन में अमर होने की इच्छा उत्पन्न होती है। कपट मुनि उसकी इस दुर्बलता का लाभ उठाता

है। कपट मुनि ने कहा कि यह तभी सम्भव है, जब हम अपने हाथों से भोजन बना कर ब्राह्मणों को खिलाएँगे। और ब्राह्मण जब प्रसन्न होकर आशीर्वाद देंगे, तो उसके परिणामस्वरूप तुम अमर हो जावोगे, तुम्हारी मृत्यु नहीं होगी। प्रतापभानु उस प्रलोभन में फँस जाता है। वह इसे स्वीकार कर लेता है। इसके पश्चात् कपट मुनि का मित्र कालकेतु योजनाबद्धरूप से भोजन का निर्माण करता है और इस पद्धति से करता है, जैसे अन्न और फल का मिश्रण हो। पर उसमें ब्राह्मण का मांस भी डाल दिया गया था। जिस समय आमंत्रित ब्राह्मणों को भोजन के लिए बिठा दिया गया, उसी समय आकाशवाणी हुई——

भयेउ रसोईं भूसुर मांसू।
सब द्विज उठे मानि विश्वासू ।।१/१७२/७

और आकाशवाणी में एक आदेश मिला——

विप्रबृन्द उठि उठि गृह जाहू।
है बड़ि हानि अन्न जन खाहू ।।१/१७२/६

—'ब्राह्मणों, इस रसोई में ब्राह्मण का मांस मिला है, आप लोग यहाँ से उठकर अपने अपने घर को चले जाइए। इस अन्न को खाने में बड़ी हानि है।" उन्हें भगवान् से जो यह संदेश मिला उसे यदि विद्वानों और पण्डितों ने सर्वांग रूप से मान लिया होता और अन्न को छोड़कर अपने अपने घर चले जाते तो शायद क्रोध की प्रतिक्रिया का जन्म न होता। लेकिन उन्होंने आकाशवाणी की आधी बात मानी और एक तीव्रतम प्रतिक्रिया उनके मन में उत्पन्न हो गई। क्या? आकाशवाणी में तो यही कहा गया था——"उठि उठि गृह जाहु।" अर्थात् अपने अपने घर को चले जाइए। भोजन मत कीजिए। यह सुनकर

उन्होंने भोजन तो छोड़ ही दिया, पर घर जाने के पूर्व वे स्वयं न्यायाधीश के सिंहासन पर बैठ गये। न्यायाधीश की सबसे बड़ी विशेषता यह होनी चाहिए कि वह स्वयं संतुलित हो, समत्व में स्थित हो, तभी वह ठीक-ठीक न्याय कर पावेगा। यदि वह स्वयं क्रोधग्रस्त हो जाय तो ऐसी स्थिति में वह न्याय नहीं कर पावेगा। क्रोधग्रस्त हो जाने पर तो वह जो करेगा, वह बदले की वृत्ति से करेगा। ब्राह्मणों ने विचारक की भूमिका के स्थान पर बदले की वृत्ति को स्वीकार कर लिया और वे कहने लगे, --कि अरे, मूर्ख राजा, तूने हम लोगों का धर्म नष्ट करने की चेष्टा की। और साथ ही साथ वे ईश्वर को धन्यवाद देते हुए बोले,

ईश्वर राखा धर्म हमारा ।१/१७३/२

--"यह तो ईश्वर ने हमारे धर्म की रक्षा की।" अब कहाँ शंकरजी का क्रोध और कहाँ इन लोगों का क्रोध। आकाशवाणी ने यह नहीं कहा था कि प्रतापभानु का इसमें कोई दोष है। केवल यही कहा था कि अन्न में मांस मिला हुआ है। लेकिन इन लोगों ने जब शाप दिया तो यह कह कर--

जैहसि तैं समेत परिवारा ।।१/१७३/२

--'जाओ, सारे परिवार सहित राक्षस हो जाओ।" तो उनका ऐसा कहना क्या उचित था ? उन्हें इतना क्रोध आ गया कि उसके सारे परिवार को राक्षस होने का शाप दे दिया। यहाँ पर एक बड़ी सुन्दर मनोवैज्ञानिक बात कही गई है कि ब्राह्मणों ने शाप देकर सोचा कि हमने अपराधी को दण्ड दे दिया, पर अचानक उनको फिर से आकाशवाणी सुनाई पड़ी। आकाशवाणी में

ब्राह्मणों की आलोचना करते हुए कहा गया कि आप लोगों ने इसे जो शाप दिया——"जैहसि तें समेत परिवारा" —वह विचार करके नहीं दिया। यदि प्रतापभानु विचार-शून्य हो गया था तो कम से कम आप लोगों को तो विचार की भूमिका में रहना चाहिए था। एक व्यक्ति विचारशून्य हो जाय और इसके बदले में दूसरा व्यक्ति भी विचारशून्य होकर आक्रमण करने लगे; एक व्यक्ति लोभग्रस्त हो जाय और दूसरा व्यक्ति क्रोध से ग्रस्त हो जाय और दोनों आपस में टकराएँ और शाप देकर किसी को राक्षस बना दें तो यह समाज के लिए कितना घातक होगा। ब्राह्मणों को जो क्रोध हुआ, उससे ब्राह्मणों की महिमा नहीं बढ़ी अपितु उसके दुष्परिणाम को सारे समाज को न जाने कितने वर्षों तक भोगना पड़ा। भगवान् ने मुनियों की प्रशंसा नहीं की क्योंकि जब कोई व्यक्ति किसी को राक्षस बना देगा, बुरा बना देगा, तो बुरा व्यक्ति तो बुरा बनकर और भी बुराई करने की चेष्टा करने लगेगा। और यही होता है प्रतापभानु के जीवन में।

यह प्रतापभानु अगले जन्म में रावण बन जाता है। रावण के रूप में उसके जीवन का एक ही व्रत था—कि मुनियों को खाना। यह किस बात की प्रतिक्रिया थी? यही कि मैं इन ब्राह्मणों को भोजन करा रहा था और इन लोगों ने मुझे शाप दे दिया, बिना अपराध के। तो मैं इन सबको खाऊँगा। अब ये मेरा क्या कर सकते हैं। यही क्रोध की हिंसक प्रतिक्रिया रावण के चरित्र में विद्यमान है। भगवान् राम को दण्डकारण्य में रावण के क्रोध के प्रतिक्रिया दिखाई देती है। दण्डकारण्य में वे

देखते हैं कि वहाँ मुनियों के हड्डियों का ढेर लगा हुआ है। भगवान् पूछते हैं कि यह हड्डियों का ढेर कैसा है? इस पर मुनि लोग आँखों में आँसू भरकर कहते हैं --

"निसिचर निकर सकल मुनि खाए।" ३/८/८

-"निशाचरों ने मुनियों को खा लिया है।" पर विचित्र विडम्बना तो यह है कि इन निशाचरों का निर्माण भी तो मुनियों ने ही किया था। अपना ही निर्माण अपने को खा जाय-यह एक बड़ी विचित्र स्थिति है। और ऐसा ही होता है कि अपने से उत्पन्न हुआ दुर्गुण अपने ही लिए तथा समाज के लिए घातक हो सकता है। यह रावण क्या है? यह है ब्राह्मणों के शाप से आहत प्रतापभानु के अन्तःकरण की प्रतिक्रिया। प्रतापभानु के चरित्र के बारे में लिखा हुआ है --

दिन प्रति देइ विविध विधि दाना।
सुनइ सास्त्र बिधि बेद पुराना॥
नाना बापीं कूप तड़ागा।
सुमन बाटिका सुंदर बागा॥
बिप्र भवन सुर भवन सुहाए।
सब तीरथन्ह विचित्र बनाए॥ १/१५४/६-८

--इस तरह से पवित्रतम निर्माण कार्य प्रतापभानु के द्वारा हुआ करते थे। और वही जब रावण बनता है, तो उसके जीवन में एक ही व्रत है। क्या?

जेहिं जेहिं देस धेनु द्विज पावहिं।
नगर गाउँ पुर आग लगावहिं॥
सुभ आचरन कतहुँ नहिं होई। (१/१८२/६)

—प्रतापभानु के अन्तःकरण की प्रतिक्रिया ही आज रावण के रूप में प्रगट होती है कि हमने भला बनने की चेष्टा की और बदले में हमें शाप देकर हमारे पूरे परिवार को नष्ट कर दिया गया। तो अब मैं बुराई के द्वारा इसका बदला लूँगा। और इसका परिणाम यह होता है कि इस प्रतिक्रिया के फलस्वरूप रावण सारे समाज पर अत्याचार करता है। तो जहाँ शिवजी का क्रोध समाज के लिए कल्याणकारी है, वहीं रावण के रूप में इस क्रोध का विकृत स्वरूप समाज के लिए अभिशाप बनकर आता है।

(क्रमशः)

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

शरद् चन्द्र पेंढारकर, एम.ए.

(१) जातस्यहि ध्रुवो मृत्युः

एक बार गौतम बुद्ध के पास एक स्त्री आई और विलाप करने लगी कि उसके पुत्र की साँप द्वारा काटने से मृत्यु हो गई है तथा उसका इकलौता पुत्र होने के कारण वह उनके पास उसे जीवित कराने के इरादे से आई है। बुद्धदेव ने उससे प्रश्न किया, "क्या तुम नहीं जानती कि इस संसार में जो भी जन्म लेता है, उसका एक न एक दिन अन्त होने ही वाला है ?"

"जानती हूँ," वह स्त्री बोली, "मगर आप पहुँचे हुए महात्मा हैं और आपमें इतना सामर्थ्य है कि आप मेरे पुत्र को जीवित कर सकते हैं, इसीलिए मैं आपसे याचना कर रही हूँ। मगर आप तो मुझे उपदेश दे रहे हैं। यदि आप उसे जीवित नहीं कर सकते, तो कृपया साफ-साफ बता दें।"

बुद्धदेव ने जान लिया कि पुत्र-वियोग में शोकमग्न इस स्त्री को समझाना कठिन है। उन्होंने कहा, "ठीक है, मैं तेरे पुत्र को जीवित कराने के लिए प्रभु से प्रार्थना करता हूँ। मगर तू इसके लिए कहीं से राई ले आ, लेकिन ध्यान रखना, जिस घर से तू राई लायेगी, उस घर के लोग कभी भी शोकाकुल न हुए हों।"

उस स्त्री के मन में आशा का संचार हुआ। उसने सोचा कि राई तो आसानी से प्राप्त हो जायेगी। लेकिन उसका ऐसा सोचना गलत साबित हुआ। वह जिस घर में जाती, वहाँ यही जबाब मिलता कि उस घर में किसी न किसी की मृत्यु अवश्य हुई है। वह बेचारी थक गई, लेकिन तब तक उसे इस बात की प्रतीति हो गई थी कि

मृत्यु अटल एवं अवश्यम्भावी है और उसका सामना किसी न किसी दिन हर एक को करना ही पड़ता है। वह बुद्धदेव के पास पहुँची और उसने बताया कि अन्य लोगों के समान वह भी इस दारुण दुःख को सहन करेगी और सभी दुखों का वह धैर्य और साहसपूर्वक सामना करेगी।

(२) लोभः मूलानि पापानि

एक बार एक धनिक व्यक्ति ने पेशावर के एक दुहचा मसंद को एक सौ मोहरें, जड़ाऊ सोने के कंगनों की एक जोड़ी तथा बहुत से वस्त्र व शस्त्र देकर उन्हें गुरु गोविंदसिंहजी को देने के लिए कहा। कीमती जड़ाऊ कंगन व मोहरें देखकर मसंद का जी ललचाया। उसने उन्हें अपनी पगड़ी के नीचे छिपा लिया और जब गुरुजी के पास पहुँचा, तो उसने कंगन व मोहरें रोककर अन्य वस्तुएँ दे दीं।

गोविंदसिंहजी की उम्र उस समय अधिक न थी, वे तब किशोर ही थे। मगर उनसे यह बात छिपी न रही। उन्होंने मसंद से पूछा, "भाईजी, आपके पास और कोई अमानत तो नहीं है?" यह सुनते ही उसके तेवर चढ गये. मारे क्रोध से वह बोला "इसका मतलब यह है कि मैं चोर हूँ और मैंने सारी चीजें आपको नहीं दी हैं। बुजुर्गों ने यह सच ही कहा है कि किसी बालक का राज करना ठीक नहीं। यदि आप वयस्क होते. तो आपने मेरी ऐसी तौहीन न की होती!"

गुरुजी ने हँसकर कहा, "जो व्यक्ति लोभ का जरा भी संवरण नहीं कर सकता, उससे बढ़कर पापी और कोई नहीं। इसमें कोई शक नहीं कि लोभ के वशीभूत होने

वाला व्यक्ति अन्य पाप कर्म करने में जरा भी नहीं हिच-किचाता। आपके साथ भी यही हुआ है। आप चोर ही नहीं, चतुर भी हैं।" और यह कहते हुए उन्होंने ज्योंही छड़ी से उसकी पगड़ी उछाली, त्योंही सिर पर से मोहरें व कंगन नीचे गिर पड़े। अब तो मसंद लज्जा के मारे पानी-पानी हो गया। उसने गुरुजी के चरणों पर गिरकर क्षमा माँगी।

(३) तृष्णया मतिश्छाद्यते

एक बार राजा मिलिंद ने महास्थविर नागसेन से प्रश्न किया, "जब संक्रमण (आत्मा का एक शरीर को त्यागकर दूसरा शरीर धारण करना) नहीं होता, तो पुनर्जन्म कैसे होता है ?"

नागसेन ने राजा से ही प्रश्न किया, "यदि कोई एक बत्ती से दूसरी बत्ती जलाए, तो क्या इससे वह बत्ती दूसरी में संक्रमण करती है ?"

"नहीं, भन्ते !" राजा ने जवाब दिया।

"महाराज ! इसी प्रकार बिना संक्रमण हुए पुनर्जन्म होता है। महास्थविर ने आगे कहा, "अच्छा यह बताइये राजन् कि आपके गुरु के बताए हुए श्लोक आपको कंठस्थ तो होंगे। तब क्या वे श्लोक आचार्य के मुख से सीधे आपके मुख में प्रविष्ट हुए थे ?"

"नहीं भन्ते !"

"बस इसी तरह बिना संक्रमण हुए पुनर्जन्म होता है।"

किन्तु राजा की जिज्ञासा शान्त न हुई। उसन आगे पूछा, "क्या ऐसा भी कोई जीव है, जो इस शरीर से निकलकर दूसरे में प्रवेश करता है ?"

"नहीं महाराज !"

"जब आत्मा इस शरीर से निकलकर दूसरे शरीर में जाने वाला नहीं है, तब तो वह पाप-कर्मों से मुक्त हो गया।"

"हाँ महाराज, यदि फिर उसका जन्म न हो तो वह अपने पाप कर्मों से मुक्त हो गया। लेकिन यदि वह फिर जन्म ग्रहण करे तो मुक्त नहीं हुआ। इसे मैं एक उदाहरण देकर समझाता हूँ—मुझे यह बताइये, यदि कोई मनुष्य किसी का आम चुराये, तो क्या वह दंड का भागी होगा।"

"हाँ, भन्ते होगा।"

"मगर महाराज, यह तो मानते हैं न कि उस आम के वृक्ष को उसके द्वारा न रोपने के बावजूद वह दंड का भागी होगा। ठीक इसी तरह एक पुरुष इस नाम-रूप से अच्छे-बुरे कर्म करता है और उन कर्मों के प्रभाव से दूसरा नाम-रूप धारण करता है, इसलिए वह अपने पाप-कर्मों से मुक्त नहीं हुआ।"

"हाँ, भन्ते। आपने ठीक समझाया।"

"तब महाराज, यह भी जान लें कि जब तक मनुष्य की अविद्या-तृष्णा का नाश नहीं होता, तब तक उसका अच्छा-बुरा कर्म ही उसका सब कुछ है। तृष्णा के क्षय हो जाने पर कर्म का भी क्षय हो जाता है और पुनर्जन्म का भी। लेकिन जब तक तृष्णा का क्षय नहीं हो जाता, तब तक प्राणी को जन्म-जन्मान्तर तक जन्मों के चक्कर में रहना पड़ता है।"

(४) मति रामहि सो, गति रामहि सो

तेरहवीं सदी में महाराष्ट्र में 'चोखामेला' नामक एक महान् सन्त हो गये हैं। महार जाति यह सन्त पुरुष

विट्ठलदेव का परम भक्त था। पंढरी की वारी करना अपना एकमेव धर्म समझता था।

एक बार मंगलबेढा में जमीन से मिट्टी निकालने का काम चल रहा था और चोखोबा भी उस काम में जुट गये थे कि अकस्मात् उनके मन में विचार आया, मैं यहाँ दिन-रात मिट्टी निकालता जा रहा हूँ और मिट्टी के अलावा मुझे कुछ भी दिखाई नहीं दे रहा है। भगवान् की भी मुझे सुधि न रही।" फिर अपने इष्टदेव की मोहिनी मूरत को अपने अन्तर्चक्षुओं के सामने लाकर वे उसे संबोधित कर बोले, "भगवन्! मैं इस काम में इतना मग्न हो गया कि मुझे तेरे रूप-स्वरूप की स्मृति ही न रही। लेकिन अब मुझे वारी की याद आ रही है, तेरे सुन्दर रूप की मुखाकृति बार-बार आँखों के सामने आती जा रही है। अगर मैं अपने काम में एकमग्न हो गया, तो फिर तुझे भूल जाऊँगा। मुझे तो तुझसे मिलने की आशा हर क्षण बढ़ती जा रही है। मुझसे अब रहा नहीं जाता। मुझे अब यहाँ से ले चल, ताकि जन्म-जन्म तक तेरी सेवा करने का मुझे सौभाग्य मिले।" और उन्होंने 'विठ्ठल-विट्ठल' का का नामोच्चार करना शुरू किया।

भगवान् ने अपने भक्त की आकुलता सुनी। अचानक नीचे की मिट्टी धँसने लगी तथा चोखोबा सहित अन्य लोग मिट्टी के नीचे दब गये और इस तरह भक्त की भगवान् से एकरूप होने की इच्छा पूरी गई। लोगों ने जब इस दुर्घटना का समाचार सुना, तो हाहाकार मच गया। मगर उनमें मिट्टी के ढेर में से शव निकालने का साहस नहीं हुआ। यह घटना शक १२६०, बैसाख बदी पचमी (१, मई, १३३८) की है।

कुछ दिन बीत गये और उनका मृत शरीर मिट्टी में मिल गया। केवल अस्थियाँ ही शेष रहीं। बात जब सन्त नामदेव को मालूम हुई तो उन्होंने मिट्टी निकालना शुरू किया और जब उन्हें हड्डियाँ मिलीं, तो प्रश्न उठा कि इनमें से चोखोबा की हड्डियाँ कौनसी हैं। तब नामदेव ने एक-एक अस्थि को अपने कान के पास ले जाना शुरू किया। जिस अस्थि से 'विट्ठल-विट्ठल' की ध्वनि आती, वह चोखोबा की है, कहकर वे उसे अलग रखने लगे।

नामदेवजी ने उन अस्थियों को एकत्र किया और एक पालकी में रखकर, जुलूस का आयोजन कर भजन-पूजन के साथ वे उन्हें पंढरपुर ले आये। मंदिर के महाद्वार पर जमीन में उन अस्थियों को गाड़कर उन्होंने शक १२६० की बैसाख बदी १३ को उस स्थान पर समाधि बाँधी। आज भी वारकरी लोग चोखोबा की समाधि का दर्शन करने के बाद ही विट्ठलदेव का दर्शन करते हैं।

(५) त्यागाधिका : स्वर्गमुपाश्रयन्ते

एक दिन प्रभु यीशु एक ऐसे स्थान बैठे थे जहाँ पास में एक दानपात्र रखा हुआ था। लोग आते और खूब सारे सिक्के पात्र में डालकर चले जाते। यीशु ने गौर किया कि हर कोई व्यक्ति पात्र में सिक्के डालने बाद गर्व का अनुभव करता है। अकस्मात् उन्होंने देखा कि एक गरीब औरत आई और उसने दो सिक्के पात्र में डाले और चुपचाप वहाँ से निकल गई।

यीशु ने चेलों को बुलाकर पूछा कि सबसे ज्यादा सिक्के डालने वाला दानी है या कम सिक्के डालने वाला? चेलों ने जवाब दिया, "बेशक, जिसने सबसे ज्यादा धन दिया, वह दानी हुआ।" यीशु ने सुना तो

बोले, "नहीं, तुम सबका सोचना गलत है। गरीब स्त्री ने भले ही दो छोटे सिक्के डाले हों, मगर परमेश्वर की दृष्टि में इन सिक्कों की कीमत दूसरों द्वारा डाले सिक्कों से कहीं अधिक ही है। इसका कारण यह है कि धनी लोगों ने जो सिक्के डाले हैं, उनकी उन्हें जरूरत नहीं थी, जबकि असली त्याग इस गरीब स्त्री ने किया है कि उसे इनकी जरूरत होते हुए भी उसने एक सत्कर्म के लिए अपनी वह संचित पूँजी दे डाली। इस कारण यही स्त्री पुण्यात्मा है और स्वर्ग की अधिकारी है।"

क्या वैज्ञानिक प्रवृत्ति सम्पन्न होते हुए आध्यात्मिक होना सम्भव है ? (३)

स्वामी बुधानन्द

(ब्रह्मलीन लेखक रामकृष्ण मठ-मिशन के विशिष्ट संन्यासियों में थे । वे अपने सेवा-काल में अद्वैत आश्रम, मायावती के भी अध्यक्ष रह चुके थे तथा अन्त में रामकृष्ण मिशन, नई दिल्ली के प्रमुख थे । उन्होंने बहुत-सी पुस्तकें लिखी हैं, जिनमें 'मन और उसका निग्रह' विशेष रूप से उल्लेखनीय है । प्रस्तुत लेखमाला उनकी एक दूसरी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'Can one be scientific yet spirituar ? का हिन्दी रूपान्तर है । रूपान्तरकार, स्वामी ब्रह्मेशानन्द, रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, वाराणसी में कार्यरत हैं । –स0)

५. वैज्ञानिक दृष्टिकोण की शुद्धि के ह्रास के दुष्परिणाम

इसमें कोई सन्देह नहीं कि मानव जाति को बहुत से लाभ प्रदान करने के साथ ही विज्ञान ने तोप, बम एवं प्रक्षेपास्त्रादि भी तैयार किये हैं । मानव के हाथों में विज्ञान द्वारा प्रदत्त संहार शक्ति के वर्णन के लिए 'भीषण' शब्द पर्याप्त नहीं है । वह कल्पनातीत है । लेकिन इस विषय में हमें दो बातें याद रखनी चाहिए–

(क) प्रथम, मानव ने विज्ञान में से संहार शक्ति खोज कर निकाली है; संहारात्मक होने में विज्ञान की कोई निजी रुचि नहीं है ।

(ख) द्वितीय, विज्ञान का उत्कर्ष सत्य की एकनिष्ठ खोज के फलस्वरूप हुआ है । विज्ञान की शक्ति उसकी उपलब्धियों में नहीं, बल्कि इसमें निहित है कि वे कैसे प्राप्त हुई हैं ।

यह जो 'कैसे' है, वह आत्म त्याग, निष्ठा, सत्यानुसन्धान में एकाग्रता, एवं जीवन की ओछी वासनाओं के त्याग की एक अद्भुत गाथा है। ये सद्गुण एक वैज्ञानिक को, ज्ञान के एक अटल अन्वेषी को एक सन्त के समान सम्मान का अधिकारी बना देते हैं। धर्माचार्य को वैज्ञानिक से अधिक सम्मान देने की भारतीय मनोवृत्ति की निन्दा करते एवं इसका कारण बताते हुए स्वामी विवेकानन्द कहते हैं—

"वेदान्त 'वेद' शब्द से बना है, और 'वेद' का अर्थ है ज्ञान। समस्त ज्ञान वद है और ईश्वर की भाँति अनन्त है। कोई व्यक्ति ज्ञान की कभी सृष्टि नहीं करता। क्या तुमने कभी ज्ञान का सर्जन होते देखा है? ज्ञान का अन्वेषण मात्र होता है—आवृत का अनावरण होता है। ज्ञान सदा यहीं है, क्योंकि वह स्वयं ईश्वर है। अतीत, वर्तमान, अनागत इन तीनों का ज्ञान हम सबमें विद्यमान है। हम उसका अनुसन्धान मात्र करते हैं, और कुछ नहीं। ये सारे ज्ञान स्वयं ईश्वर हैं। वेद संस्कृत भाषा के महान् ग्रन्थ हैं। हम अपने देश में वेदपाठी के सम्मुख नतमस्तक होते हैं। भौतिक शास्त्र के विशेषज्ञ की हम कोई चिन्ता नहीं करते। यह अन्धविश्वास ही है। यह बिल्कुल ही वेदान्त नहीं। यह कोरा जड़वाद है। ईश्वर के लिए समस्त ज्ञान पवित्र है। ज्ञान ही ईश्वर है।

सामान्य भ्रान्ति के विपरीत यह कहना युक्तिसंगत होगा कि विज्ञान का प्रभाव एक नैतिक प्रभाव है। विज्ञान की शक्ति सत्य के प्रति वफादारी की शक्ति है।

12. पूर्वोल्लेखित, विवेकानन्द साहित्य नवम खंड, 1963, पृष्ठ 89-90।

हमारे पास यह जानने का कोई उपाय नहीं है कि भगवान् के लिए धूप-दीप, भक्ति-गीतों एवं प्रवचनों से युक्त एक धर्म स्थान अधिक सुखकर है या एक प्रयोग-शाला, जहाँ अर्धरात्रि की शान्ति में प्रयोग किये जाते हों। यह भी सम्भव है कि भगवान् वैज्ञानिक के अनजाने ही, वह जिस प्रकार की पूजा करता है, उसे अधिक पसन्द करते हों। "सत्य को जानो, सत्य तुम्हें मुक्त करेगा। सत्य के प्रति अनुराग से ही विज्ञान ने मुक्ति एवं अपना नैतिक अधिकार प्राप्त किया है। और इस प्रक्रिया में उसे शक्ति भी मिली।

लेकिन वैज्ञानिक का नैतिक प्रभाव तब तक अस्थिर है, जब तक वह विश्व के सम्बन्ध में बहुत जानते हुए भी स्वयं के विषय में बहुत कम जानता रहेगा। बहिर्जगत् के बारे में अधिक ज्ञान एवं अन्तर्जगत् के बारे में अधिक अज्ञान वैज्ञानिक को अपने एवं संसार के लिए समस्या बना देता है। यही नहीं, विश्व के वैज्ञानिकों के साथ एक दुर्भाग्य पूर्ण बात होने लगी है। इतिहास की शिक्षा है कि किसी भी क्षेत्र में सदुपाय से प्राप्त अधिकार का जब दुरुपयोग होने लगता है तथा जब वह विनम्रता का भाव खो देता है, तब दूषित हो जाता है। ऐसा लगता है कि विज्ञान की प्रभुता अधिकारीवाद के दुष्परिणामों से दूषित होने लगी है। इसके कुप्रभाव स्पष्ट हैं।

आज अनेक वैज्ञानिक धन एवं सत्ता के लिए सत्य के बदले अपनी सरकार की उपासना करते हैं, जो उनका अपनी नीतियों के यन्त्र के रूप में उपयोग करना चाहती

13. नया व्यवस्थान (New Testament) सन्त जॉन 8 32।

है; चाहे वे नीतियाँ कितनी ही आपत्तिजनक क्यों न हों। वे लोग ध्वंसात्मक उपकरणों का आविष्कार ऐसी सुनियोजित शान्ति के साथ कर रहे हैं, जैसी सामान्य हत्यारों के लिए भी अजनबी है। यह एक भीषण निर्लिप्तता है। वैज्ञानिकों के ऐसे सामूहिक निर्लिप्त दुःसाहस के समक्ष ब्रूनो जैसे लोगों पर किये गये अत्याचार, चाहे वे अत्यन्त अमानुषिक क्यों न हों, नगण्य हैं। हिरोशिमा में एटम बम से ६०,००० स्त्री-पुरुष एवं बच्चे मारे गये तथा १,००,००० घायल हुए थे। और लगभग सारा बन्दरगाह धमाके अथवा अग्नि से नष्ट हो गया था। उस बम को बनानेवाले, और तबसे उससे भी अधिक शक्तिशाली बम बनाने में संलग्न, वैज्ञानिकों को सत्यान्वेषी कहने की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

वस्तुत: वैज्ञानिक दृष्टिकोण, जो मानव मन की सर्वोत्तम उपलब्धियों में से एक है, आज बहुत हद तक सत्ता के लिए उन्मत्त एवं नंगी दौड़ तथा निरर्थक वाणिज्यीकरण के साथ मिल गया है। यह स्वभावत: ही आत्मघाती है। यह आधुनिक युग की एक गम्भीर दुर्घटना है, जिसने हम सभी के लिए एक विश्वव्यापी समस्या पैदा कर दी है। इस समस्या के परिणामों से कोई बच नहीं सकता। अत: इस समस्या के स्वरूप को जितनी स्पष्टता से हो सके समझना आवश्यक है।

जैसा कि कहा जा चुका है, आज का 'काल-प्रवाह' वैज्ञानिक मनोवृत्ति से प्रभावित है। और यह मनोवृत्ति आज मानव की कुछ निकृष्टतम अभिरुचियों के साथ अभिन्न रूप से संयुक्त हो गयी है। सत्ता एवं उन्माद के मिलन से भयानक और कुछ नहीं हो सकता। और उस

स्वस्थचित्तता एवं साधुता से दुखद और क्या होगा, जो प्रभावहीन हो ।

विश्व की गतिविधियों से सम्बन्धित सभी चिन्तकों का यह अनिवार्य कर्तव्य है कि वे ऐसे उपाय खोज निकालें, जिससे विज्ञान को उन्मत्तता से पृथक् कर विवेकशीलता एवं सत्यान्वेषण के साथ जोड़ा जा सके । यह बहुत हद तक वैज्ञानिकों के विवेक के जागरण पर निर्भर होगा। वस्तुत: विज्ञान की पवित्रता की रक्षा के लिए तथा उसे संहारात्मक उद्देश्यों के बदले कल्याणकारी उद्देश्यों के साथ संयुक्त रखने के लिए जिस बात की आवश्यकता है वह है एक विश्वव्यापी सत्याग्रह की । आवश्यकता है, यथानिर्दिष्ट नियमों एवं वैज्ञानिक पद्धति द्वारा प्रकृति का ज्ञानानुसन्धान करते समय बुराई के साथ असहयोग की। आज बहुत से वैज्ञानिक राजनीतिज्ञों एवं उद्योगपतियों के अत्यधिक गुलाम हो गये हैं। जो वैज्ञानिक समाज और विज्ञान के प्रति अपनी महती जिम्मेदारी के प्रति सजग हैं, वे एक दीर्घ साहसपूर्ण आत्मत्याग युक्त संघर्ष के द्वारा ही इस दासता से स्वाधीनता प्राप्त कर, एक सच्चे वैज्ञानिक की तरह कार्य करने में समर्थ हो सकेंगे ।

यह कहना कठिन है कि यह कब संभव होगा। लेकिन ऐसा लगता है कि कुछ वैज्ञानिक, धीरे धीरे ही क्यों न हो, इस आवश्यकता के प्रति सजग हो रहे हैं कि विज्ञान की शुद्धता की हर कीमत पर रक्षा की जानी चाहिए। इन वैज्ञानिकों में हम

मानव जाति के श्रेष्ठतम चरित्रवान् व्यक्तियों को पा सकते हैं।

(क्रमशः)

○

14. अमेरिकी विज्ञान विकास संघ की मानव-कल्याण में विज्ञान विषयक समिति द्वारा 31 दिसम्बर 1964 को प्रकाशित एवं प्रसारित 'विज्ञान की विशुद्धता' शीर्षक प्रबन्ध ने इस बात का असंदिग्ध प्रमाण प्रस्तुत किया है कि, सभी नहीं, तो भी एक बड़ी संख्या में, वैज्ञानिक अन्य किसी भी चिन्तनशील मानवतावादी की तरह ही विज्ञान की विशुद्धता बनाये रखने के लिये प्रयत्नशील हैं। हम इस प्रबन्ध के "समाज और वैज्ञानिकों के दायित्व" नामक अंश से कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करते हैं।

"समाज की निरंतर माँगों के दबाव से विज्ञान की विशुद्धता को गंभीर क्षति हुई है। यह स्थिति विज्ञान और समाज दोनों के लिये खतरनाक है। यदि समाज को नये वैज्ञानिक युग में सुरक्षित प्रवेश करना है, तो प्रकृति के विश्वसनीय निर्देशक के रूप में विज्ञान की क्षमता-विज्ञान की विशुद्धता को दृढ़ करने के लिय कदम उठाने होंगे। विज्ञान की विशुद्धता बनाये रखने में वैज्ञानिकों का एक दायित्व है जिससे वे छुटकारा नहीं पा सकते। अपने शास्त्र के अनुशासन के प्रति तथा समाज के प्रति उनके कर्तव्यों की यह माँग है।"

इसके बाद इस प्रभावशाली प्रबन्ध में विशुद्धता बनाये रखने के उपायों का वर्णन है, जिनमें संशोधन की गुंजाइश नहीं है।

माँ के सान्निध्य में (१८)

स्वामी अरूपानन्द

(प्रस्तुत संस्मरण के लेखक ब्रह्मलीन स्वामी अरूपानन्दजी माँ सारदा के शिष्य एवं सेवक थे । मूल बँगला ग्रन्थ 'श्री श्रीमायेर कथा' मे अनुवाद किया है, स्वामी निखिलात्मानन्द ने जो सम्प्रति रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के वनवासी सेवा केन्द्र, नारायणपुर, जिला बस्तर के संचालक हैं । —स०)

८ जून १९१३, जयरामवाटी (माँ का पुराना मकान)

श्री सुरेन्द्रनाथ भौमिक तथा डाक्टर दुर्गाप्रसाद घोष आये हैं। आज शाम को वे लोग वापस लौटेंगे । सबेरे स्नान के पश्चात् वे श्री श्री माँ को प्रणाम करने गये । माँ ने उनके सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद दिया और बैठने को कहा । दो एक बातें कह सुरेन्द्र बाबू ने माँ से पूछा. माँ, ठाकुर की पूजा करते समय मन में एक बात खटकती है । जैसे किसी को यह विश्वास है कि उसके इष्ट देवी और ठाकुर एक हैं। पर ठाकुर की मूर्ति में इष्ट देवी की पूजा करके जप विसर्जन के समय जब "त्वत्प्रसादान्महेश्वरी" कहा जाता है तब एक खटका-सा लगता है। माँ—(सहास्य) पर बेटा, वे ही महेश्वर हैं और वे ही महेश्वरी । वे ही सर्वदेवमय हैं, सर्वबीजमय हैं। उनमें ही सब देवी देवताओं की पूजा होती है। उन्हें चाहे महेश्वर कहो अथवा महेश्वरी, एक ही बात है।

सुरेन बाबू—माँ, ध्यान वान् तो कुछ भी नहीं होता ।

माँ—वह भले न हो। पर ठाकुर के चित्र को देखने से ही होगा ।

ठाकुर काशीपुर में बीमार थे। लड़के पारी पारी से वहाँ रहते थे । गोपाल वहीं था । ठाकुर को छोड़ वह

एक दिन ध्यान करने बैठा था। बड़ी देर तक ध्यान करता रहा। गिरीश बाबू ने आकर सुना और कहा, "आँख मूँद कर वह जिसका ध्यान कर रहा है वे यहाँ रोग शय्या में कष्ट पा रहे हैं। यह कैसा ध्यान है?" उन्होंने गोपाल को बुलवाया। ठाकुर ने उसको पैर दबाने के लिए कहा और बोले, "पैर में दर्द है, इसलिए क्या तुझे पैर दबाने के लिए कह रहा हूँ? यह बात नहीं। तूने बहुत किया है (पूर्व जन्म में) इसलिए कह रहा हूँ।"

"उनका दर्शन करना, उसी से होगा।"

सुरेन बाबू—माँ, नियम के अनुरूप तीन समय जप करना सब समय सम्भव नहीं हो पाता है।

माँ—भले वह न हो पाये। स्मरण मनन रखना। जब सम्भव हो, जप करना। कम से कम प्रणाम तो कर ही पाओगे?

दुर्गा बाबू—माँ, भोजन के बारे म क्या-क्या नियम पालन करना चाहिए, कुछ समझ में नहीं आता।

माँ—आहार आदि के सम्बन्ध में ठाकुर एक नियम पर विशेष जोर देते थे। प्रथम श्राद्ध के अन्न को खाने से सब भक्तों को मना करते थे। वे कहते थे, 'उससे भक्ति की हानि होती है।' उसे छोड़ उनको स्मरण करके खान-पान करना।

दुर्गा बाबू—माँ, अस्पताल में काम करते समय प्यास लगने पर कई बार जिस किसी के हाथ का पानी पीना पड़ता है और पीता भी हूँ। उससे क्या होगा, माँ?

माँ—तो क्या करोगे? काम के समय सब करना पड़ता है। ठाकुर को याद करके पीना। काम के समय उसमें दोष नहीं होता। जो लोग काम काज में लगे रहते हैं उनको यह सब मानकर चलने से भला कैसे होगा? *

सुरेन बाबू—सही बात है माँ। संसार में दस लोगों को लेकर रहना होता है। भोजन पकने पर ऐसा भी होता है कि दो लोग पहले अग्र भाग खाकर चले गये। बाद में वही भोजन परोसा जाता है। उसे भोग लगाने में दुविधा होती है।

---

* माँ सब समय हर किसी के हाथ की वस्तु खाने की पक्षधर थी, ऐसा नहीं लगता। जयरामवाटी में एक दिन उन्होंने इस प्रसंग पर ठाकुर की बात का उल्लेख करते हुए कहा था, "ठाकुर कहते थे, अरे मैं तो अभी ही मोची, मेहतर, सभी के हाथ का खाकर आ सकता हूँ इसलिए क्या तुम लोग अभी से सबको मिलाकर एक कर दोगे?" माँ की अन्तिम बीमारी के समय जब उन्हें डबलरोटी देने की बात हुई तो माँ ने कहा, "बेटा, मेरे इस अन्तिम काल में मुझे अब मुसलमान के द्वारा छुई हुई चीज मत खिलाओ।" उस समय उन्हें जो डबलरोटी दी गयी थी वह ब्राह्मण के द्वारा तैयार की गयी थी। बाद में उन्हें मिल्क रोल डबलरोटी यह बताकर दी गयी कि वह मशीन में बनी है। किन्तु अन्य समय में यह भी देखा गया है कि उन्होंने अब्राह्मण त्यागी भक्तों के द्वारा पकाया हुआ अन्न भी ग्रहण किया है।

माँ—संसार में तो वैसा होगा ही । हम लोगों को भी होता है ।** जैसे कोई बीमार है तो उसके लिए पहले से ही निकाल कर रख देना होता है। इसलिए भोजन मिलने पर उनकी ही कृपा से भोजन मिला यह सोचकर उनका स्मरण करके खाना । उससे दोष नहीं होगा ।

सुरेन बाबू—माँ, मन की जो अवस्था है, उसके बारे में क्या कहूँ । आप तो भीतर की सब बात जानती हैं और जान ही रही हैं । जिस बीमारी से कई सालों से भुगत रहा हूँ, आपकी कृपा न रहने से अब तक मर ही गया होता ।

माँ—हाँ बेटा, संसार में जो कष्ट है उसके बारे में क्या कहना । कष्ट का अन्त नहीं है । तुम लोगों को तो

** पर मैंने यह भी देखा है कि जयरामवाटी में घर के लड़के बच्चे यदि भोग के पहले खाने की बात कहते तो वे धमक देकर कहतीं, "अभी कैसा खाना? भगवान् को भोग लगा नहीं है, अभी नहीं ।" एक दिन मामा को काम से सबेरे जाना था । माँ ने उनके लिए अलग से पका दिया पर ठाकुर के भोग के लिए पकाया हुआ अन्न उन्हें नहीं दिया । एक दिन वे उद्बोधन में ठाकुर के लिए फल छील रही थीं कि माक के बच्चे ने फल खाना चाहा । माँ ने उसे देने के पहले ठाकुर को दिखाया (निवेदित किया) फिर उसे दिया । अन्तिम बीमारी के पूर्व जब माँ बीमार पड़ी थीं तब उन्हें बहुत समझा-बुझाकर भोग के पहले खिलाया गया था । पर उन्होंने भोजन को, ठाकुर को भोग लगाकर खाया । दूसरे दिन भी उन्हें भोग के पहले भोजन दिया गया पर वे 'अब आयी' 'अब आयी' कहकर टालती रहीं और जब वे खाने बैठीं तब तक ठाकुर को भोग लगाया जा चुका था । इधर ठाकुर का भोग भी हो गया और माँ ने खाना प्रारम्भ किया । दूसरे दिन ठाकुर का भोग होने के पश्चात् ही वे खाने को बैठीं ।

है ही। ठाकुर ने भी मुझे कैसे रखा है! इस लड़की (राधू) को लेकर क्या क्या न कष्ट भोग रही हूँ।

सुरेन बाबू—हाँ माँ, यहाँ की ऐसी अवस्था देखकर ही मन को समझाता हूँ। उससे साहस होता है—जब माँ संसार की यत्रणा देख रही हैं तो दया होगी ही।

माँ—कोई भय नहीं, बेटा ठाकुर हैं। वे ही तुम्हारे इहलोक, परलोक में सब रक्षा करेंगे।

सुरेन बाबू—माँ, मैं दूर में पड़ा हूँ। अच्छा, स्वप्न क्या सत्य है?

माँ—हाँ, सत्य नहीं तो क्या! उनका स्वप्न सत्य है। उनके बारे में हुए स्वप्न की बात वे स्वयं अपने सामने में बोलने से मना करते थे।

सुरेन बाबू—ठाकुर कैसे थे न देखा न जाना। हमारे लिए तो ठाकुर कहिए या जो भी कहिए सब कुछ यही (आप ही) हैं।

माँ—डर की कोई बात नहीं है बेटा। ठाकुर देखेंगे। इहलोक परलोक सब देखेंगे। सब रक्षा करेंगे।

भोजन के बाद वे लोग रवाना हुए। साथ में वरदा मामा भी थे। वे कलकत्ते जावेंगे। धीरे-धीरे वे लोग उत्तर तरफ के मैदान में पहुँचे। माँ भी कुछ दूर तक जाकर जब तक वे लोग दिखायी पड़ते रहे, देखती रहीं।

ये सुरेन बाबू जब बल्लारतनगज स्कूल में हेडमास्टर थे तो उस समय वहाँ के कसाइयों द्वारा जीवित गायों का चमड़ा खींच निकालने की खबर सुनकर बहुत दुःखित हुए थे। एक दिन दुष्टों ने वह कार्य स्कूल के सामने किया। हिन्दू और मुसलमान छात्रों और शिक्षकों ने इसका जबरदस्त विरोध किया। कसाइयों को मारा भी।

इसको लेकर झगड़े की शुरुआत हुई। कसाइयों ने सुरेन बाबू के ऊपर अत्याचार करने का भय दिखलाया। इसी समय स्कूल के दो तीन लड़के श्री श्री माँ से दीक्षा प्राप्त करने के लिए जयरामवाटी गये। सुरेन बाबू ने उनके हाथ माँ के नाम एक पत्र दिया। उन्होंने भी सारी घटना श्री श्री माँ को कह सुनायी। माँ सुनकर सिहर उठीं और सुरेन बाबू को सम्बोधित कर बोलीं, 'तुम लोग ऐसे कार्य का विरोध नहीं करोगे तो और कौन करेगा ? माँ के कहे अनुसार सुरेन बाबू को खूब अभय प्रदान कर पत्र लिखा गया और जिससे ऐसी नृशंस घटना और न घटे इसके लिए विशेष प्रयास करने के लिए कहा गया। सुरेन बाबू के दूसरे पत्र के उत्तर में माँ ने लिखवाया, "भगवान् यदि सत्य हैं तो इसका प्रतिफल अवश्य होगा।" इस घटना को लेकर मुकदमा चला। उसका परिणाम आशानुरूप न होने पर भी धीरे धीरे यह जघन्य कार्य पूर्णतः बन्द हो गया।

११ जून १९१३, जयरामवाटी

दोपहर में माँ के घर के बरामदे में मैं एक व्यक्ति के साथ खाने बैठा।

माँ—राधू कह रही थी कि इस बार कुआर के महीने में भयानक मार-काट होगी ऐसा पंचांग में लिखा है।

मैं—मारकाट नहीं, महामारी।

बातचीत के बीच माँ ने कहा, "ठाकुर के आविर्भाव के साथ सत्ययुग का आरम्भ हो गया है। उनके साथ सब विशेष लोग आये हैं। यह नरेन सप्तर्षियों में प्रमुख ऋषि था। ठाकुर चाहते तो कह सकते थे वह सौ ऋषियों में से एक था। ऐसा न कह उन्होंने उसे महान् सप्तर्षियों

में से एक बताया। अर्जुन योगीन के रूप में आया था। ऐसे चुनिन्दे लोग भला कितने होते हैं? खट्टे आम की तो कोई गिनती ही नहीं पर फजली आम तो कम ही मिलता है। साधारण व्यक्ति तो कितने ही जनमते और मरते हैं पर जो विशिष्ट व्यक्ति होते हैं वे ही भगवान् के कार्य के लिए उनके साथ आते हैं।"

मैं– स्वामीजी ने भी कहा है कि ठाकुर के आविर्भाव के साथ सतयुग प्रारम्भ हो चुका है।

माँ– सही बात है।

१२ जून १९१३, जयरामबाटी

दोपहर में माँ खाने बैठी हैं। राधू को भी बगल में बिठाकर खिला रही है। माँ राधू से कह रही हैं, "ले खा ले, यह गाँदाल का झोल* है। ठाकुर इसे खाते थे। वे गाँदाल, गूलर तथा कच्चा केला पसन्द करते थे। उन्हें पेट की बीमारी थी तो। ले दूध पी ले।"

राधू–और नहीं खाऊँगी।

माँ–खाले और थोडा खाले। (हम लोगों से) ठाकुर की बीमारी के समय उन्हें कुमारटोली के गंगा प्रसाद सेन को दिखाया गया। कविराज ने पानी बन्द करके दवाई लेने को कहा। ठाकुर आकर सब को पूछने लगे, 'क्योंजी, पानी पिये बिना रह सकूँगा? जिसको देखते उसी से पूछते। पाँच साल के बच्चों को भी पूछते, "क्यों, बिना पानी के रहा जा सकता है?" वे कहते, "हाँ, क्यों नहीं।" मुझसे पूछा, क्या रह सकूँगा? मैंने कहा, क्यों नहीं रह सकोगे?

* एक प्रकार की लता जो दवाई के काम आती है, उसके पत्ते की रसदार तरकारी।

उन्होंने कहा, "अनार के दानों को धोकर, उसका पानी पोंछ कर देना होगा। देखो, यदि तुम लोग कर सको।" मैंने कहा, "वह तो माँ काली, जैसा करेंगी यथा-साध्य उनकी इच्छा से होगा।" अन्त में मन में निश्चय कर उन्होंने पानी बन्द करके दवा खायी। मैं रोज उन्हें ३-४ सेर और आखिर में तो ५-६ सेर तक दूध देती थी। मन्दिर का ग्वाला मुझे ज्यादा करके दूध दे जाता था। वह कहता, "वहाँ (मन्दिर में) देने से काली का भोग बेटे लोग (पुजारी लोग) अपने घर ले जायेंगे। न मालूम किसको खिलायेंगे पिलायेंगे। यहाँ देने से वे (ठाकुर) खायेंगे।" इसलिए ५-६ सेर तक दे जाता। वह बड़ा भक्त था। मैं उसे सन्देश, रसगुल्ला आदि मिठाई जो उस समय बहुत आती थी, देती। दूध को आग में औंटाकर उसे १-१।। सेर बना लेती। वे पूछते, "कितना दूध है?" मैं कहती, "कितना क्या—सेर भर. पाँच पाव होगा। वे कहते, "नहीं, अधिक होगा। यह मोटी मलाई जो दिख रही।"

'एक दिन गोलाप माँ वहाँ थीं। उन्होंने उससे पूछा, 'क्योंजी, कितना दूध होगा?' गोलाप ने सब कह दिया।

'हाँ, इतना दूध? इसीलिए तो मेरा पेट भारी-भारी रहता है। बुलाओ, उसे बुलाओ।' मैं गयी। उन्होंने मुझसे पूछा, कितना दूध होगा?' मैंने कहा, 'पाँच पाव होगा।'

—'फिर गोलाप जो इतना बताती है।'

—'गोलाप को मालूम नहीं है। यहाँ के माप का भला गोलाप को क्या पता? बर्तन में कितना दूध समाता है उसे गोलाप क्या जानेगी?' "और एक दिन गोलाप को पूछने लगे कि कितना दूध आता है। गोलाप ने कह

दिया, 'एक बर्तन दूध यहाँ का और एक बर्तन दूध काली मन्दिर का।' सुनते ही बोले, 'हाँ, इतना दूध? बुलाओ, बुलाओ, उससे पूछो।' मेरे पहुँचते ही उन्होंने कहा, 'बर्तन में कितना दूध समाता है? कितने छटाक कितने पाव?' मैंने कहा, कितने छटाक, कितने पाव यह सब मैं नहीं जानती। दूध पीना है तो बर्तन में कितने छटाक, कितने पाव दूध धरेगा इसकी क्या जरूरत? इतना हिसाब कौन रखे?' उन्होंने कहा, 'इतना दूध क्या हजम होगा? इसीलिए तो पेट भारी रहता है।' और सचमुच उस दिन उनका पेट गड़बड़ा गया। मैंने पूछा, 'कैसा दस्त हो रहा है?' उन्होंने कहा, सफेद मैदे जैसा। एक एक करके पन्द्रह बार शौच को गया हूँ। तुम लोगों की ऐसी सेवा मुझे नहीं चाहिए।' उस दिन रात को भी उन्होंने कुछ नहीं खाया। भात पड़ा ही रह गया। मैंने थोड़ा सा साबूदाना बना दिया था। गोलाप ने कहा, 'माँ, मुझे पहले से बतला देतीं। मुझे मालूम नहीं था। सारा खाना नष्ट हो गया।' मैंने कहा, 'खिलाने के लिए झूठ बोलने में कोई दोष नहीं है। मैं इसी प्रकार उनको समझा बुझाकर खिलाती हूँ।' (हम लोगों से) उनका शरीर अच्छा स्वस्थ हो गया था।"

मैं—मुझे तो लगता है कि मन ही सब कुछ है।

माँ—हाँ मन की ही तो बात है, नहीं तो जब तक उन्हें नहीं बताया गया था वे अच्छा भोजन कर रहे थे।

रात में मैं और विभूति खाने के लिए बैठे। मैंने विभूति से कहा, "राधू के लिए एक अच्छे विश्वसनीय व्यक्ति से हिस्टीरिया रोग का कवच ला देने से अच्छा होगा।"

माँ—हाँ, स्वरूप नारायण के धर्म *मन्दिर के पुजारी लोग दवाई देते हैं। राधू के लिए वहीं से लूँगी ऐसा सोचा है। अभी कुछ दिन झाड़-फूँक कराने की इच्छा है। मेरी माँ उसी स्वरूप नारायण का फूल पाकर अच्छी हुई थीं। उसी समय से मुझे इस पर विश्वास है।

विभूति—अच्छा, 'धर्म' के पुजारी ? बौद्ध लोग दवाइयाँ देते थे तो। 'धर्म' का मतलब है बुद्धदेव।

माँ—हमारे यहाँ भी 'धर्म' मन्दिर है उधर उस ओर।

मैं—मुझे मालूम है, सब जगह 'धर्म' अर्थात् बुद्ध मूर्ति है।

माँ—यहाँ जो मूर्ति है वह कच्छप के रूप में और उसे (सुन्दर) नारायण कहते हैं।

विभूति— मूर्ति आसन के समान है न ? उसके नीचे चार पाये हैं ?

माँ—हाँ, बीच में थोड़ा ऊँचा है।

विभूति—वह कच्छप नहीं है, वह बुद्धासन है। बुद्धावस्था अस्ति नास्ति के परे है तो ? उनकी कोई मूर्ति हो नहीं सकती। इसलिए उनको केवल आसन बताया है।

माँ वह हो सकता है। हमारे इसी 'धर्म' की लड़के लोग पूजा करते हैं। जो चाहे चढ़ाते हैं, कोई विधि निषेध नहीं है। दो लाल फूल दे दिया या और कुछ दे दिया। वे किसी का अपराध नहीं लेते। जिसने जो दिया उसी में प्रसन्न रहते हैं।

---

* बंगाल के इतिहास में इन क्षेत्रों में 'धर्म' की उपासना उस संक्रान्ति काल में प्रारम्भ हुई थी जब बौद्ध धर्म अपने देवी-देवताओं के साथ पुनः हिन्दू धर्म में समाहित हो गया था। धर्म के विभिन्न नामों में 'स्वरूप नारायण' एक है।

मैं—पीड़ा आदि के लिए लोग देवी निदान पाते हैं, किन्तु इसके (राधू के) भाग्य में वह भी नहीं बदा है।

माँ—नहीं, कोई फिरकर भी नहीं देखता। यह जो मैं इतना पुकारती हूँ कुछ नहीं होता। बीमारी के समय मेरा सारा शरीर फूल गया था। नाक कान से पानी बहता था। उमेश (माँ के भाई) ने कहा, 'दीदी, यहाँ सिंहवाहिनी है, क्या वहाँ धरना दोगी? वही मुझे राजी करके पकड़ कर ले गया। पूर्णिमा की रात मेरे लिए अमावस्या थी। आँखों से दीखता नहीं था। लगातार पानी बहने से आँखें अन्धी हो चली थीं। जाकर माँ के मन्दिर में पड़ रही। फिर मुझे दस्त की शिकायत हो गयी। रात में तीन चार बार हाथ से टटोल टटोल कर शौच को गयी। मेरी भिक्षा माँ का घर वहीं पास में था। वह बीच बीच में गला खखारती रहती थी ताकि मुझे डर न लगे। वहीं पड़ी रही। कुछ देर बाद वे (सिंहवानी) लुहारों की एक लड़की के रूप में जिसकी उम्र राधू के बराबर (१२-१३ साल) होगी, मेरी माँ के पास जाकर कहती है—'जाओ, जाकर उसे उठा ले आओ। वह इतनी बीमार है उसे क्या इस तरह छोड़ देना उचित है। अभी ले आओ। उसे यह दवाई देना, उसी से ठीक हो जायेगी।' और इधर उन्होंने मुझसे कहा, 'लौकी के फूल को नमक के साथ रगड़कर उसका रस बूँद बूँद करके आँख में देना। उससे ठीक हो जाओगी।' उसके बाद माँ ने जो दवाई पायी उसे लिया तथा लौकी के फूल का रस बूँद बूँद करके आँखों में दिया। देते ही जैसे जाल खिंच आता है वैसे ही आँख का सब मैल बाहर निकल आया। उसी दिन से आँखें अच्छी हो गयीं। तथा शरीर का फूलापन भी कम हो गया। शरीर अच्छा

छरहरा हो गया । मैं निरोग हो गयी, जो पूछता उससे कहती, 'माँ की दवाई से ठीक हुई ।' इसके साथ ही माँ के महात्म्य का प्रचार हो गया । मुझे दवाई मिली और संसार धन्य हो गया । पहले माँ को कोई इतना जानता नहीं था । मेरे चाचा ने एक बार माँ के समक्ष धरना दिया था । उन पर उन्होंने इतने काले चींटे छोड़ दिये कि वे वहाँ पर ठहर नहीं पाये । माँ ने मेरी माँ को स्वप्न में कहा, 'मैं सो रही थी, ऐसे समय में उसने धरना क्यों दिया ? वह ब्राह्मण होकर क्या यह सब नहीं जानता ? जाओ, जाओ उसे बुला ले आओ ।' माँ ने कहा, 'तुमने इतनी बात कही, तो जरा दवाई के बारे में भी बता देतीं ।'

"मेरी माँ को एक बार दर्शन हुआ था । गाँव में एक बार काली पूजा के समय नव मुकर्जी ने वैमनस्य के कारण पूजा के लिए हम लोगों का चावल नहीं लिया । माँ ने पूजा के लिए चावल आदि की तैयारी कर रखी थी । पर उसने हमारे यहाँ का चावल नहीं लिया । माँ सारी रात केवल यह कह रोती रही, 'काली के लिए चावल का प्रबन्ध किया और मेरा चावल नहीं लिया । मेरा यह चावल अब कौन खायेगा ? यह काली का चावल तो दूसरा कोई खा नहीं सकता ।' बाद में रात में देखती हैं कि जगद्धात्री जिनका रंग लाल था, दरवाजे के पास पैरों पर पैर देकर बैठी हैं । तब केवल एक ही कमरा था, वरदा का कमरा । वे (ठाकुर) आने से उसी कमरे में रुकते । जगद्धात्री ने हाथ से थपथपाते हुए माँ को जगाया और उठाकर कहा, 'तुम रोती क्यों हो ? काली का चावल मैं खाऊँगी । तुम इतना सोच क्यों करती हो ?' माँ ने कहा, 'तुम कौन हो ?' जगद्धात्री ने कहा, 'मैं जगदम्बा हूँ,

जगद्धात्री के रूप में तुम्हारी पूजा ग्रहण करूँगी।' दूसरे दिन माँ ने मुझसे पूछा, 'अरी सारदा, लाल रंगवाली पैरों पर पैर देकर बैठी वह कौन सी देवी है ? मैं जगद्धात्री की पूजा करूँगी।' 'मैं जगद्धात्री पूजा करूँगी'—उनकी अब वही एक रट हो गयी। विश्वास लोगों के पास से करीब १३ मन धान लिया गया। उस समय ऐसी वर्षा हुई कि एक दिन भी बन्द नहीं हुआ। माँ ने कहा, 'माँ, तुम्हारी पूजा कैसे होगी ? अभी तक तो धान ही नहीं सुखा पायी।' बाद में माँ जगद्धात्री ने ऐसी धूप कर दी कि चारों ओर वर्षा हो रही थी और माँ की चटाई पर धूप। लकड़ी जलाकर मूर्ति को सेंक देकर सुखाया गया और उसे रंग किया गया। प्रसन्न उनको (ठाकुर को) दक्षिणेश्वर में सूचना देने गया। उन्होंने सुनकर कहा, 'माँ आयेंगी, माँ आयेंगी; अच्छा बहुत अच्छा ! पर तुम लोगों की अवस्था तो बहुत खराब थी रे।' प्रसन्न ने कहा, 'आपको जाना होगा। मैं आपको लेने आया हूँ।' उन्होंने कहा, 'यही मेरा जाना हो गया। जाओ, अच्छी तरह पूजा करना। अच्छा बहुत अच्छा, तुम लोगों का कल्याण होगा।'

जगद्धात्री पूजा सम्पन्न हुई। पूरे गाँव को आमन्त्रित किया गया। उसी चावल से सब खर्च आदि निकल गया। प्रतिमा विसर्जन के समय माँ ने जगद्धात्री-मूर्ति के कान में फिर कह दिया, 'माँ जगाई, अगले साल फिर से आना मैं तुम्हारे लिए पूरे साल भर सब तैयारी करके रखूँगी।' अगले साल माँ ने मुझसे कहा, 'देखो, तुम भी कुछ देना, मेरी जगाई की पूजा होगी।' मैंने कहा, 'मैं इतना झंझट नहीं सह सकती। एकबार पूजा तो हो गयी,

अब यह झंझट क्यों ? इसकी कोई जरूरत नहीं । मुझसे अब नहीं होगा ।' रात में सपने में देखती हूँ कि वे तीनों हाजिर हैं । बाप रे बाप । वह सब याद पड़ रहा है ।

मैं—वे तीन कौन ?

माँ—जगद्धात्री तथा सखियाँ जया और विजया । वे कहने लगीं, 'तो क्या हम लोग फिर चली जायँ ?' मैंने कहा, 'तुम लोग कौन हो ?' उन्होंने कहा, 'मैं जगद्धात्री हूँ ।' मैंने कहा, 'नहीं, तुम लोग कहाँ जाओगी ? न न तुम लोग कहाँ जाओगी ? तुम लोग रहो । तुम लोगों को जाने के लिए नहीं कहा ।'

तब से मैं हरबार जगद्धात्री पूजा के समय यहाँ आती हूँ । वर्तन आदि माँजने का काम रहता है तो । और तब तो हमारे परिवार में अधिक लोग नहीं थे । मैं बर्तन माँजने के लिए आती थी । उसके बाद योगीन (महाराज) ने सब लकड़ी के बर्तन बनवा दिये । उसने कहा, 'माँ, तुमको अब वहाँ बर्तन माँजने के लिए नहीं जाना पड़ेगा । उसने जगद्धात्री पूजा के लिए जमीन भी खरीद दी । अहा ! मेरी माँ मानो लक्ष्मी थीं । पूरे साल भर वह सब सामान आदि इकट्ठा कर सजा कर रखती थीं, कहतीं, 'मेरा भक्त भगवान् का संसार है, मेरा सारदा (स्वामी त्रिगुणातीतानन्द) शायद कभी आ जाय, योगीन (महाराज) आ जाय इसलिए इनकी आवश्यकता है ।' अच्छे प्रकार का चावल आदि जो कुछ पातीं जमा करके रखती थीं । कहतीं; 'जब तक मैं हूँ, ब्रह्मा है, विष्णु हैं, जगदम्बा हैं, शिव हैं, सभी हैं । मैं चली जाऊँगी । ये सब भी साथ-साथ चले जायेंगे । तुम लोग क्या उनकी देखभाल कर पाओगी ? मेरा भक्त भगवान् का संसार है ।'

"मुझे थोड़ी दस्त की शिकायत हुई थी। उसे सुनकर माँ न कहा, 'इसे आमाशय का रोग लगा ही रहता है, काशी में भी हुआ था।' मैंने कहा, 'काशी में जाने के पहले कलकत्ते में भी हुआ था। हमारे वंश में ही यह रोग लगा हुआ है। पिता तथा और भी कई लोग दस्त के कारण ही दिवंगत हुए।"

विभूति–वह सब क्या है? पिता कब किससे मरे उमसे क्या होता है?

माँ–हाँ, उससे क्या? दृष्टान्त देना उचित नहीं। उससे भुगतना पड़ता है। कौन कब मरा। कौन पिता कौन माँ? ईश्वर ही सब कुछ हैं। (क्रमश:)

☐

विवेकानन्द जयन्ती
समारोह-१९९०

-- कार्यक्रम --

गुरुवार, १८ जनवरी

स्वामी विवेकानन्द का १२८ वाँ जन्म-तिथि उत्सव

मंगल आरती, प्रात:वन्दना .... प्रात:काल ५। से ६।। बजे तक
विशेष पूजा, भजन, हवन, आरती . . प्रात:काल ७।। से १२ बजे तक
सान्ध्य आरती, प्रार्थना, भजन.... सायंकाल ६ से ७।। बजे तक

शुक्रवार १२ जनवरी प्रात:काल ९ बजे

राष्ट्रीय युवा दिवस

(रविशंकर विश्वविद्यालय परिसर में)

शोभायात्रा, जनसभा एवं
स्वामी विवेकानन्द के प्रति युवाशक्ति की श्रद्धांजलियाँ

शनिवार, १३ जनवरी सायंकाल ६ बजे

अन्तर्महाविद्यालयीन विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

विषय :-- "यदि आज स्वामी विवेकानन्द होते"

रविवार, १४ जनवरी सायंकाल ६ बजे

अन्तर्महाविद्यालयीन तात्कालिक भाषण प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)